राक्षसराज

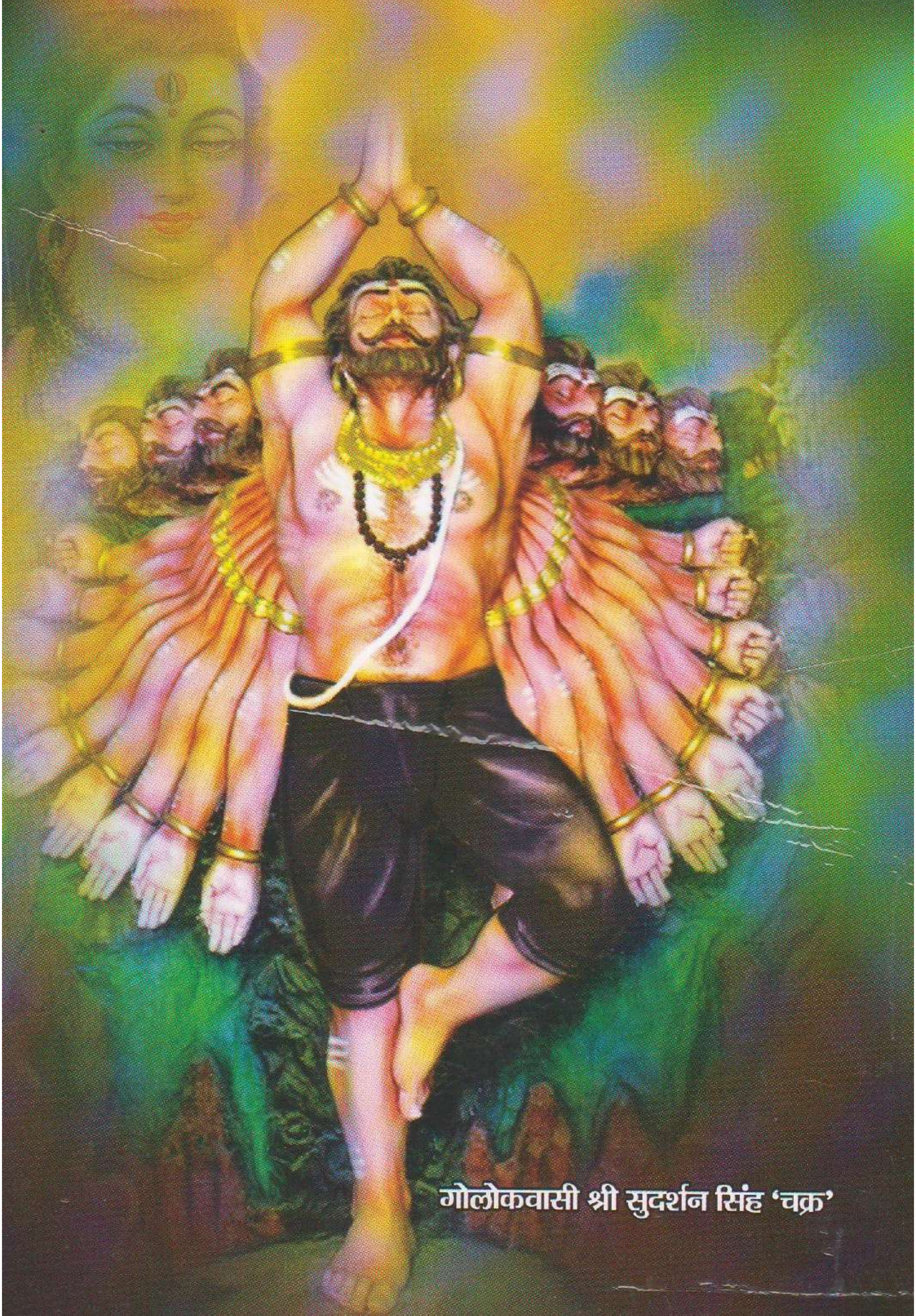

गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

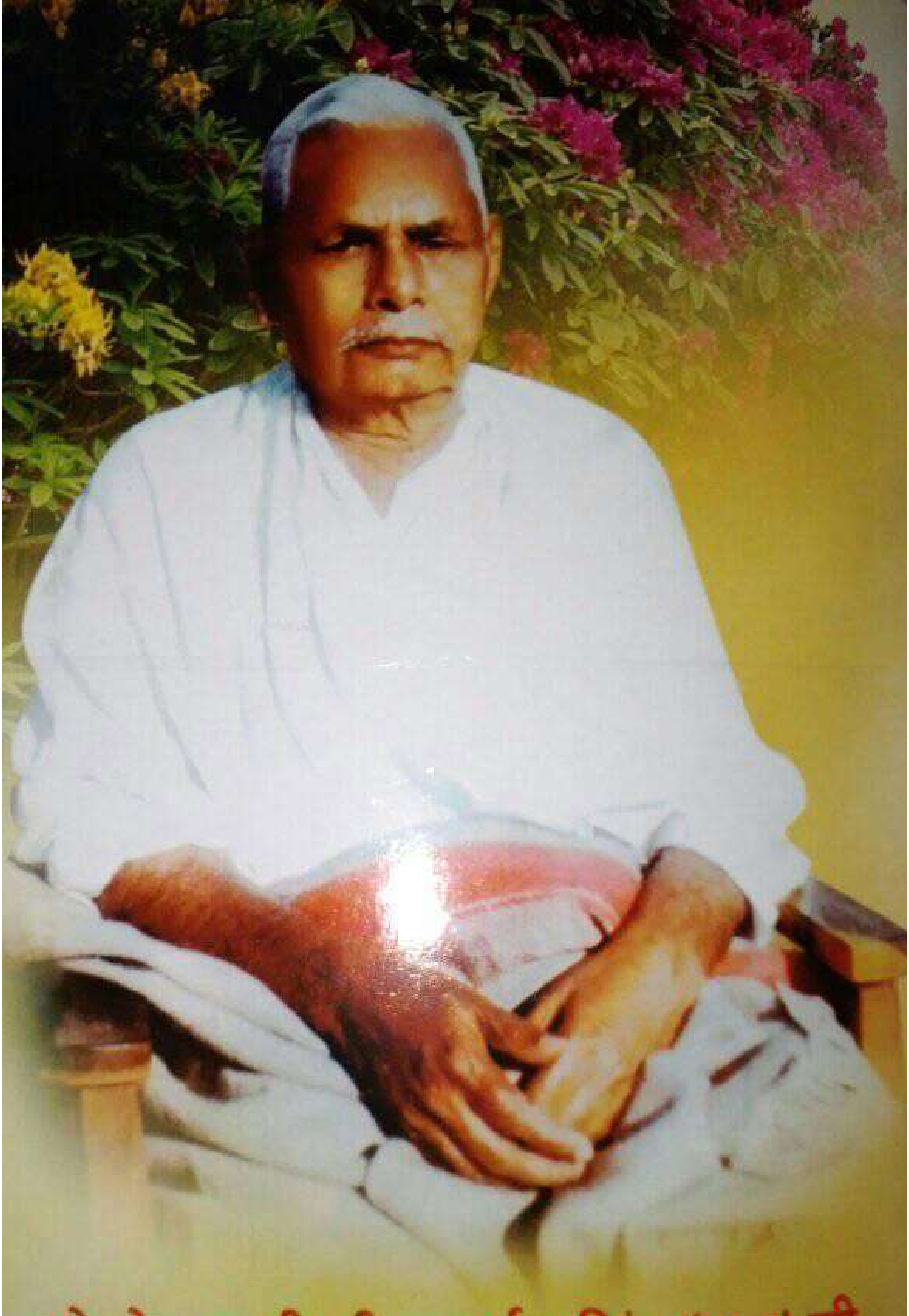

गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र' जी

आध्यात्मिक लेखक एवं हनुमद्धाम के संस्थापक

आविर्भाव : 14 नवम्बर 1911

तिरोभाव : 25 सितम्बर 1989

बाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड पर आश्रित
पौराणिक उपन्यास

राक्षसराज

लेखक

गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'

ॐ

(इस पुस्तक को या इसके किसी अंश को छापने तथा
अनूदित करने की सबको स्वतन्त्रता है।)

संरक्षक :

हनुमद्धाम
श्रीराम अध्यात्मिक प्रन्यास
शुकतीर्थ, जिला-मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
पिन-257316

प्रकाशन तिथि	**श्री हनुमद् जयंती**
संस्करण	**तृतीय, सं. 2075 (सन् 2019)**
लेखक	**गोलोकवासी श्री सुदर्शन सिंह 'चक्र'**
प्रकाशक	**डॉ. विवेक गौड़** श्रीराम निकुञ्ज, प्रेमनगर एटा (उ.प्र)
मूल्य	**120/-**
मुद्रण	**आशीष प्रिण्टर्स** **"मानव सेवा फाउण्डेशन"** 173/350, कृष्णा गली चामुण्डा कॉलोनी, जयसिंहपुरा, मथुरा मोबाइल : 9258046104

यह पुस्तक कोई भी प्रकाशित करा सकता है।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
1.	महर्षि पुलस्त्य	3
2.	महामुनि विश्रवा	9
3.	धनाध्यक्ष वैश्रवण	14
4.	दशग्रीव	20
5.	शक्ति की शोध	25
6.	कुम्भकर्ण	30
7.	विभीषण	36
8.	राक्षस राजधानी	42
9.	मन्दोदरी	48
10.	पुष्पक–प्राप्ति	54
11.	रावण	59
12.	मेघनाद	64
13.	वेदवती	67
14.	राक्षस	70
15.	शत्रुता का सूत्रपात	73
16.	प्रचण्ड पराक्रम	76
17.	शाप	83
18.	इन्द्रजीत	89
19.	बलि के यहाँ बन्धन	94
20.	सहस्त्रार्जुन	98
21.	बाण	102
22.	बालि	105
23.	अयोध्या का आतंक	109
24.	व्यूह	114
25.	करादान	118
26.	उपसंहार	121

इस संस्करण के सम्बन्ध में

अपनी पुस्तक है, अतः अपने को अच्छी लगे, इसमें कोई नवीन बात नहीं हैं।

निज कवित्त केहि लाग न नीका।

लेकिन इसका प्रथम संस्करण मानव संघ, पो०-रामवन (सतना-म० प्र०) से प्रकाशित हुआ था। वह अप्राप्य हो गया तो पुनः संस्करण आवश्यक नहीं लगता था।

जब अनेक पाठक इसे पाने का आग्रह करने लगे, मध्य प्रदेश के ही एक सज्जन इसे अपने व्यय से पृथक प्रकाशित करने तक को उद्यत हो गये, तब लगा कि बहुत से पाठकों को भी यह पुस्तक रुची है।

इस संस्करण में कुछ परिवर्तन नहीं हुआ है। केवल छपाई की अशुद्धियों को यथा सम्भव सुधारा गया है।

मेरे लिखे श्रीरामचरित में कई स्थानों पर टिप्पणी में इस 'राक्षसराज' का उल्लेख है। अब श्रीकृष्णजन्मस्थान सेवा संस्थान इसे भी प्रकाशित करके सुलभ कर रहा है। पाठकों को इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति की झलक भी मिलेगी।

श्रीकृष्ण-जन्मस्थान,
मथुरा-281001
16-09-1982

—सुदर्शन सिंह 'चक्र'

राक्षसराज

उपक्रम

राक्षसराज रावण ब्राह्मण था। वह ब्रह्माजी के मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य का पौत्र था, केवल इतने से ही वह ब्राह्मण नहीं था। वह श्रुतिधर था। वेदों का इतना प्रकाण्ड विद्वान था कि उसने वेदभाष्य किये। वह कर्मिष्ठ था, यह दूसरी बात है कि उसके कर्म हमारी कर्मधारणा के अनुसार नहीं थी। बहुत सीधी रीति से कहें तो वह तन्त्रों में तथा कुछ राजस-तामस तान्त्रिक पद्धतियों में आस्था रखता था।

राक्षसराज रावण ने सत्ताईस चतुर्युगी राज्य किया। उसके शौर्य एवं अमित पराक्रम की चर्चा व्यर्थ है। लेकिन उसने वह भूमि प्रस्तुत की जिससे मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम को अवतार लेना पड़ा। उस सुरासुरजयी के प्रति आपके मन में चाहे जितनी जुगुप्सा हो, किन्तु यह आप भी स्वीकार करेंगे कि वह हम-आप सबसे धन्य था, पुण्यात्मा था; क्योंकि उसे प्रभु ने दर्शन दिये। प्रभु के सम्मुख उसे उनके ही वाणों से देह-त्याग का अवसर मिला।

'जोगि वृन्द दुर्लभ गति, तोहि दीन्हि भगवान।'

श्रीरामचरित तो गोस्वामी तुलसीदास जी के 'मानस' में है ही। 'मानस' से अधिक पूर्ण, भाव सबल कोई भी रामचरित और क्या लिखेगा। लेकिन रावण चरित ही रामचरित की भूमिका है। रावण-चरित समझ में आ जाय तो यह भी समझ में आ जायेगा कि श्रीराम का अवतार क्यों हुआ और उसकी कितनी बड़ी आवश्यकता थी।

जब मुनष्य ही नहीं, देव-शक्तियाँ भी किसी आसुरी शक्ति के दमन में असमर्थ हो जाती हैं, तब सर्वात्मा को उसकी व्यवस्था करनी पड़ती है। जब महामारी, भूकम्प, बाढ़, अग्नि आदि कोई समर्थ न हों—सब आधिदैविक बाधाएँ पराजित हो चुकी हों और भौतिकता—आसुरभाव अदम्य हुंकार करता हो तो सर्वशक्तिमान अवतरित होता है। रावण—आसुरभाव का अग्रदूत,

भौतिकता का मूर्तिमान सम्राट्—कैसा था, यह बिना समझे श्रीरामावतार की पृष्ठभूमि कैसे समझ में आवेगी।

राक्षसराज रावण ने सत्ताईस चतुर्युगी राज्य किया। सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलयुग सभी देखे उसने। रघुवंश की अनेकों पीढ़ियों से उसका काम पड़ा। पुराण प्रतिपादित आर्य संस्कृति एवं असुर संस्कृति दोनों का पूर्ण चित्र आ जाना ठहरा राक्षसराज के चरित में। यह सब सोचकर मैं इस उपन्यास का आरम्भ कर रहा हूँ। मेरे आधार हैं महर्षि वाल्मीकि एवं भगवान् व्यास। उनका नित्य-प्रसाद-भोगी यह जन—लेकिन यह उपन्यास है; क्योंकि उपन्यास के बिना पूर्ण चित्र उपस्थित करना शक्य नहीं था। मेरी लेखनी कितनी सफल हुई सत्य को स्पष्ट करने में—यह निर्णय तो आप करेंगे।

⌘⌘⌘

1. महर्षि पुलस्त्य—

'मेरा कर्त्तव्य?' मेरु के सुरम्य शिखर पर मृगचर्म बिछी वेदी के ऊपर आसीन प्रज्वलित आवहनीय अग्नि के सम्मुख वे तेजोमय दूसरे अग्नि के समान प्रतीत होते थे। उन्होंने नित्य-कर्म समाप्त कर लिया था। प्रातःकालीन हवन की आहुति के कारण कुण्ड से सुगन्धित धूम्र उठ रहा था, जैसे धरा की श्रद्धा गगन को पवित्र करने बढ़ी जा रही हो। स्रुक्, स्रुवादि उपकरण अभी यथास्थान पड़े थे।

'जीव का परम कर्त्तव्य है जनार्दन से एकत्व की अनुभूति।' वह सतयुग था और वह भी इस कल्प का प्रथम सतयुग। धरा मलकलुष से अपवित्र नहीं हुई थी, फिर मन में राक्षस का चाञ्चल्य एवं तमस् का कल्मष तो कल्पना से परे था। साक्षात् स्रष्टा के मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य की निश्चयात्मिका बुद्धि एवं सहज निर्मल मन में मानव मात्र के सुनिश्चित जीवन-लक्ष्य के प्रति विकल्प की सम्भावना ही नही थी।

'जनार्दन—जीव के नित्य सखा, वे तो अपने स्वरूप हैं।' न श्रवण की आवश्यकता थी, न मनन की और न निदिध्यासन की ही। चित्त जहाँ निर्मल एवं स्थिर है, वहाँ वासुदेव ज्योति स्वयं प्रतिफलित होगी ही। तत्त्वज्ञान—वहाँ तो महर्षि की नित्य अनुभूति है।

'सृष्टि!' यही एक प्रश्न था जो उन तेजोदीप्त स्वर्णगौर, देवोपम ब्रह्मपुत्र को कई बार समाधि विचलित कर चुका था। सृष्टि—रजोगुण की स्वीकृति के बिना सृष्टि कैसे चल सकती है और उन परम सात्विक के चित्त में राजस चेष्टा की रुचि चाहने पर भी प्रकट नहीं हो रही थी।

'अन्धकार—केवल अन्धकार था चारों ओर। प्रकाश भी था; किन्तु वह मेरे ही आस-पास।' महर्षि को अपने पूज्य पिता ब्रह्माजी के वचन स्मरण हुए। 'मैं जिस कमल पर आसीन हूँ—तुम देख ही रहे हो कि ज्योतिर्मय है वह, अनन्त समुद्र उत्ताल तरङ्गों से आलोड़ित। न दिशाएँ थीं, न गगन था और न अन्य कुछ था। जल—केवल अनन्त विस्तार तक व्याप्त जल था और उसमें

इस ज्योतिर्मय लोकपद्म पर मैं किसी की प्रेरणा से प्रगट हो गया था।'

अकेला मैं—सहस्रों वर्ष तक कमल-नाल का पता लगाने के लिए मैं जल में नीचे उतरता गया। व्यर्थ था मेरा प्रयत्न।' भगवान ब्रह्मा ने बताया था—'वे परमपुरुष साधन साध्य नहीं हैं, यह तब मुझे अविदित था। निराश होकर मैं लौट आया। और श्रान्ति की चरम सीमा ही उनकी प्राप्ति का स्वर्णिम क्षण होता है, उन्होंने मुझे मेरे हृदय में ही दर्शन दिया। मेरे अन्तश्चक्षुओं ने देखा उन सच्चिदानन्दघन सान्द्र नील अनन्तशायी को। मृणाल धवल सहस्त्र फणमौलि शेष की शैय्यापर शयन किये वे दूर्वादल श्याम—वत्स! मैं धन्य हो गया उनके दर्शन करके। यह जानकर तो मैं कृतकृत्य हो गया कि मैं उनका पुत्र हूँ। उन्हीं की नाभि से यह लोकपद्म प्रस्फुटित हुआ है और इसी से मैं व्यक्त हो गया हूँ।'

'तप! तप! अपने इन परमोद्भवकी दिव्य व्यक्त वाणी जो मैंने सुनी—उसमें मुझे यही आदेश था।' ब्रह्माजी के नेत्र भर आये थे जब उन्होंने यह कहा था—'मैं उस आदेश का पालन करने में लग गया और मुझे पता लगा कि उन निखिल नियन्ता की इच्छा के प्रति अपने को पूर्णतया समर्पित कर देना ही अपनी सफलता एवं सार्थकता है। उनकी इच्छा—उनकी सृष्टि की इच्छा ही मेरे रूप में व्यक्त हुई है वत्स!'

'सृष्टि!' महर्षि पुलस्त्य के भाल पर एक मन्द आकुञ्चन आया। लोकस्त्रष्टा ने अपने सभी पुत्रों को सृष्टि करने का आदेश दिया। सम्भवत: उन्हें यही एक आदेश देना आता ही है।

'उनका आदेश'—पिता का आदेश पुत्र न माने तो? महर्षि ने अपना मस्तक वेग से झटक दिया। यह अशिष्ट विचार लगा उन्हें और एक पल भी उसे अपने में प्रश्रय देने को वे प्रस्तुत नहीं थे।' मेरे ज्येष्ठ भ्राता चतुष्टय ने पिता का आदेश स्वीकार नहीं किया। अच्छी बात तो नहीं यह। एक अधर्म की परम्परा का बीज पड़ गया एवं लोक भयङ्कर रुद्र का आविर्भाव हो गया उस अवज्ञा के परिणामस्वरूप।'

सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी के प्रथम मानसपुत्र सनक, सनन्दन, सनातन एवं सनत्कुमार ने स्त्रष्टा की सृष्टि करने की आज्ञा स्वीकार नहीं की थी।

स्वयं सृष्टिकर्ता अपने इन नित्यकुमार परम विरक्त पुत्रों का अत्यधिक सम्मान करते हैं।

पुलस्त्यजी तो इन कुमारों के अनुज हैं। अपने इन अग्रजों के प्रति उत्कट भक्ति है उनके चित्त में; किन्तु अग्रजों द्वारा पिता की अवज्ञा को उचित मान लें, ऐसी आशा उनसे कैसे की जा सकती है। गुरुजनों के भी भ्रान्तकर्म आचरणीय नहीं होते—सतयुग के उन महान पुरुषों को यह शिक्षा देना आवश्यक नहीं था।

'सृष्टि!' यहीं आकर चित्तवृत्ति शिथिल हो जाती थी। अन्तर्मुख वृत्तियाँ बाहर आना नही चाहतीं। नित्यकर्मादि के लिए भी आवश्यक गति शरीर में सप्रयत्न आती है और ऐसा महामानव सृष्टि करें! कहाँ से आवे सृष्टि के उपयुक्त उसमें सक्रियता? लेकिन वह युगव्यापिनी समाधि में बैठ नहीं पाता—सृष्टि! स्रस्टा का आदेश उसे बैठने नहीं दे रहा है।

'तुम सब यहाँ क्यों आयी?' महर्षि के मन में रोष नहीं था; किन्तु खेद था। सहसा कोलाहल ने उन्हें ध्यान से उत्थित कर दिया था। धीरे-से उन्होंने नेत्र खोले और देखा कि एक पूरी भीड़ किशोरियों को उनके आस-पास अपनी उन्मुक्त क्रीड़ा में लगी है।

'कोई अपराध हुआ देव?' एक संकोचशीला ने अञ्जलि बाँधकर मस्तक झुकाया।

'अपराध?' महर्षि आगे बोल नहीं सके। ये सौन्दर्य सौकुमार्य की सचल मूर्तियाँ और उनका यह सहज मुग्ध बाल्य—इनसे क्या अपराध हुआ। ये कुमारियाँ यदि प्रकृति की उन्मुक्त क्रोड़ी में परस्पर क्रीड़ा करती हैं तो इनका दोष क्या। शिथिल कण्ठ से उन्होंने कहा—'मेरे ध्यान में व्याघात पड़ा।'

'हम उधर निर्झर के समीप चली जाती है।' दूसरी कुमारी ने कहा। दस-बीस पद आगे जाकर उनका मञ्जु हास्य गूँजा। वे बालिकाएँ ही तो फिर भूल गयीं अपनी क्रीड़ा में कि उनके आस-पास कोई अन्य भी हैं और उन्हें व्याघात हो सकता है।

'इसका निदान?' महर्षि का प्रशान्त भाल तनिक आकुञ्चित हुआ। 'मेरु पर्वत का यह सुरम्य शिखर, राजर्षि तृणविन्दु के आश्रम का यह पावन

पार्श्व भाग; किन्तु क्या इसका परित्याग करना पड़ेगा ?'

पुष्पित वल्लरियाँ, फल भार से विनम्र तरुराजि, गुञ्जार करते भ्रमर, शाखाओं पर पक्षियों का कूजन, समीप सुरम्य निर्झर, प्रफुल्ल पद्म सरसी—मेरु के शिखर के अतिरिक्त धरा अभी आश्रम के उपयुक्त अन्यत्र कहीं हुई कहाँ थी।

न नगर बने थे और न ग्राम। पर्वत श्रेणियाँ एवं सघन कानन भूमि। मानव में अभी वर्ग नहीं था। नित्य निर्मल अन्तःकरण, सहज सन्तुष्ट मानस—तप, ध्यान, समाधि—मानव अपने स्वरूप में स्थित था। उसकी आवश्यकताएँ सीमित थीं और उसने जाना ही नहीं था कि क्लेश और भय भी कुछ होता है।

देव और मानव—लेकिन यह भेद भी नहीं-जैसा था। यह उदार मानव का शील कि वह देव वर्ग को वन्दनीय मानता था। वैसे देवताओं के लिए मानव मान्य था। ऋषिगण तो सदा देव वन्द्य रहे हैं।

महर्षि पुलस्त्य—भगवान ब्रह्मा के मानस पुत्र महर्षि। देवताओं के भी वे परमप्रिय, सम्मान्य हों, इसमें कुछ अद्‌भुत था ही नहीं, लेकिन देवलोक साधन-भूमि नहीं हो सकती और धरापर भी उपयुक्त आश्रम भूमि कम ही थी। महर्षि को स्रष्टा ने सृष्टि करने का आदेश दिया था। सर्वथा जनहीन स्थान उनका आश्रम बनने का सौभाग्य कैसे प्राप्त कर सकता था।

'इन बालिकाओं का भी क्या दोष!' महर्षि का मन आज चिन्ता करने लगा था। 'यह सुरम्य भूमि उनको भी आकृष्ट करती है और उनका स्वभावगत चाञ्चल्य यहाँ सत्य के सुखद संयोग से आमोद बनकर क्रीड़ा करता है।'

'स्थान-परिवर्तन उपयुक्त नहीं है।' पिता ने महर्षि को मेरु के इस शिखर पर आश्रम बनाने का आदेश दिया था। वे सर्वज्ञ स्रटा—उन्हें यह पता तो था ही कि यह भूमि देवकन्याओं, गन्धर्वकन्याओं तथा ऋषिकन्याओं की क्रीड़ा स्थली है। 'उपाय ही आश्रयण के योग्य है।'

'तुम सब.....!' सहसा फिर समीप हास्य ध्वनि उठी कई कण्ठों से। महर्षि ने दृष्टि उठायी। दौड़ती-खेलती कुमारियाँ उनसे कुछ दूर तक आ गयी थीं। महर्षि ने यह ध्यान नहीं दिया कि यह किशोरियों का दूसरा यूथ है।

'सुनो!' कुमारियाँ सहसा संकुचित खड़ी हो गयीं। 'अब से यदि कोई

बालिका इस आश्रम-भूमि में प्रवेश करेगी तो वह प्रवेश करते ही गर्भवती हो जायगी।'

'हे भगवान्!' बालिकाओं का प्रफुल्लमुख भय से श्वेत हो गया। वे सबकी सब वहाँ से अविलम्ब दूर चली गयीं।

'निरपराध उपाय!' महर्षि ने नेत्र बन्द कर लिया। अब वे निश्चिन्त ध्यान कर सकते थे।

'मातः!' राजर्षि तृणविन्दुकी महारानी चौंक पड़ीं। उनकी पुत्री का यह आर्तस्वर था। वह दौड़ती आयी और माता के वक्ष में मुख छिपाकर सिसकने लगी।

'वत्से!' महारानी ने पुत्री के मस्तक पर स्नेह पूर्ण कर फेरा। उसका मुख ऊपर उठाया और वे भी चौंक पड़ीं। वे उसे लिये अपने उटज से बाहर राजर्षि के सम्मुख पहुँचीं।

'यह आपकी कन्या...........।' राजमहिषी ने वाक्य पूरा नहीं किया।

'पुत्री! तुम्हारी यह क्या दशा है?' राजर्षि भी आश्चर्य हुआ। उनकी पुत्री का पाटलारुण मुख पीताभ है, उसके खञ्जन मञ्जु दृगों मे शोकाश्रु हैं; किन्तु साथ ही एक अलसभाव है और........।

'मुझे पता नहीं तात! शोक विह्वल कण्ठ से उस बालिकाने बताया— 'मैं क्रीड़ा के लिए पाश्र्व प्रपात की ओर गयी। ढूँढ़ने पर भी मुझे मेरी सहेली मिलीं नहीं। पता नहीं आज गन्धर्व कुमारियाँ क्यों नहीं आयीं। निर्झर से मुझे जलद गम्भीर स्वरों में उठती सामगान की ध्वनि सुनायी पड़ी। मैं समीप से सुनने के लोभ से उधर बढ़ गयी।

'तुम महर्षि पुलस्त्य के आश्रम में चली गयीं?' आश्चर्य से आती हुई एक ऋषिकन्या बोल उठी—'तुम्हें उनके शाप का पता नहीं था?'

'मैं भिक्षा लाया हूँ देव!' सपत्नीक राजर्षि तृणबिन्दु महर्षि पुलस्त्य के आश्रम में पधारे थे। उन्होंने महर्षि को प्रणिपात करके अपनी कन्या को आगे कर दिया—'यह मेरी पुत्री है। आपकी आराधना में यह सहायिका होगी। आश्रम मार्जन, कन्दमूलादि आहरण तथा अन्य सेवा के लिये इसे आप स्वीकार करें।

महर्षि ने लज्जा से अपने आप में संकुचित उस राजकन्या की ओर देखा। एक क्षण को उनके नेत्र बन्द हुए और फिर उन्होंने बिना किसी आवेश-उद्वेग के कहा—'एवमस्तु!'

सतयुग की विवाह पद्धति इतनी ही। राजर्षि ने पुनः पत्नी के साथ महर्षि को प्रणिपात किया और पुत्री को वहीं छोड़कर अपने उटज की ओर लौट पड़े।

'भद्रे!' राजर्षि के जाने पर महर्षि ने पत्नी की ओर देखा—'सृष्टिकर्ता मेरे पिता सत्य सङ्कल्प हैं। उनका सङ्कल्प पूर्ण हो। तुम अंतरवत्नी हो और हो मेरी ही त्रुटि के कारण।'

राजकन्या का मुख अरुण हो रहा था। उसने मस्तक झुका रखा था। अपने पद-नख से वह भूमि कुरेद रही थी। महर्षि कह रहे थे—'नारी की सफलता माता बनने में है। तुम माता बन गयी हो। तुम्हारे उदर में पुत्र है। क्योंकि तुम मेरी वेदपाठ ध्वनि सुनने आकर गर्भवती हुई हो तुम्हारे इस पुत्र का नाम विश्रवा होगा। लेकिन यह स्मरण रखो—नारी की सार्थकता पति को परमपद दिला देने और पुत्र को उसके लिए उन्मुख कर देने में है।'

महर्षि का आदेश प्राप्त करके राजकन्या ने उटज को आवास बनाया। महर्षि अब गृहस्थ हो चुके थे।

⌘⌘⌘

2. महामुनि विश्रवा—

'तात!' बद्धाञ्जलि नतमस्तक कुमार जैसे शील एवं सौजन्य की मूति हों। कपिश केशराशि जटाएँ बनने लगी थीं। कटि में मौञ्जी मेखला बल्कल कौपीन से भूषित थी। इस समय ऐणेयाजिन समेटकर समीप के शिलाखण्ड पर रख दिया गया था।

'क्या चाहते हो वत्स ?' महर्षि पुलस्त्य ने दृष्टि उठायी। उनके गौरव के अनुरूप यह उनका तपस्वी कुमार स्वर्ण की सुडौल प्रतिमा मानों उनके सम्मुख खड़ी हो।

'आज्ञा हो तो जाह्नवी एवं कलिन्द-नन्दिनी के पावन संगम पर स्नान कर आऊँ।' कुमार ने विनम्र शब्दों में अपनी अभिलाषा व्यक्त की। ब्राह्मण के चित्त में तीर्थाटन की कामना को छोड़ अन्य कामना ने प्रवेश करना उस युग में अभी सीखा ही नहीं था।

'तुम तीर्थराज की यात्रा करोगे ?' महर्षि ने अपने नेत्र एक क्षण को बन्द किये और सहसा मन्दस्मित आया उनके अधरों पर—'भविष्य तुम्हें प्रेरित करता है वत्स! माता की आज्ञा लेकर प्रस्थान करो।'

'तुम्हारी यात्रा निर्विघ्न हो।' सतयुग की माता ने कहाँ सत्कर्म में बाधा देना जाना था।

जिसकी भृकुटि पर बल पड़ते-न पड़ते अमरावती के अधीश्वर की सत्ता भी संशयास्पद हो सकती थी, उसके सम्मुख विघ्न-विघ्न आते हैं देव कोप से और देवता इतने मूर्ख नहीं कि एक ऋषिकुमार के पथ में विघ्न उपस्थित करके स्वयं उसके कोपभाजन बनने का साहस करें।

सघन कानन, स्वच्छन्द विचरते वनपशु; किन्तु आज यह आपको भयानक लगता है। मुनि कुमारों के लिए कानन माता की क्रोड़ी के समान था और केशरी भी उनका क्रीड़ा सहचर ही हो सकता था।

लताओं ने सुमन-वृष्टि की बार-बार। तरु श्रेणियों से सुपक्व फल उन्हें देखते ही टपक पड़े। जब उन्होंने कहीं शयन किया, केशरी चरणों के समीप

आ बैठा प्रहरी बनकर। अवश्य ही मृग, शशक आदि को अधिकार था—वे अपनी सुकोमल देह उनके पावन शरीर से सटाकर सो जायँ या अपने मस्तकों से उन्हें धीरे-से खुजला लें। सम्पूर्ण प्रकृति सावधानीपूर्वक आतिथ्य करने में संलग्न थी।

'भगवन्! पौलस्त्य विश्रवा श्रीचरणों में प्रणिपात करता है।' त्रिवेणी के स्नान से परिपूत होकर वे महर्षि भारद्वाज के आश्रम में साष्टांग प्रणिपात कर भूमि पर लेट गये।

'मुनि विश्रवा।' महर्षि ने देखा नहीं था इस युवक अतिथि को। वे आत्मलीन महर्षि—उन्हें तो यह भी पता नहीं लगता कि कब उनके स्कन्ध पर कपोत आ बैठा है। अभिवादन के स्वर ने उन्हें आकृष्ट किया था। शीघ्रतापूर्वक वे उठे आसन से और मुनिकुमार को उठाकर उन्होंने हृदय से लगा लिया।

'वत्से!' उटज की ओर देखकर उन्होंने पुकारा—'अतिथि पधारे हैं।'

उपस्थित हुई तात!' वीणा विनिन्दक ध्वनि आयी उटज से। सहसा उधर दृष्टि उठ गयी विश्रवाजी की। जैसे सचल स्वर्ण वल्लरी दो प्रफुल्ल पद्मों के सहारे पात्र सम्हालें चली आ रही हो।

'पादयोः पाद्यं' कन्या के हाथों से जलपात्र लेकर महर्षि अतिथि के चरण धुलाये।

'हस्तयोः अर्ध्वे' दूसरे पात्र के जल से हाथ धुलाकर महर्षि ने तीसरा जलपात्र उठाया हाथो में 'मुखे आचमनीयं।'

'आप मेरे वन्दनीय हैं।' युवक अतिथि ने संकुचित होकर कहा—'मैं आपके आशीर्वाद की ही आकांक्षा रखता हूँ।'

'अतिथि नित्य पूज्य है। आप तो मेरे ज्येष्ठ भी हैं। भगवान् ब्रह्मा के पौत्र के चरणों से मेरा आश्रम पवित्र हुआ, यह मेरा सौभाग्य।' महर्षि भारद्वाज ने सरल भाव से कहा—'लेकिन सेव्य को संकोच न हो, सेवा का वही प्रकार सुष्ठु होता है। वत्से! अतिथि की अर्चा तुम सम्पन्न करो।' अपनी पुत्री की ओर देखकर महर्षि आश्रम में एक ओर चले गये कुछ क्षणों के लिए।

'शुभे! मैं अभी मध्याह्न कृत्य सम्पन्न करूँगा।' चन्दन, पुष्पमाल्य, धूप, दीप के अनन्तर जब मुनि-कन्या ने नैवेद्य का आयोजन प्रारम्भ किया, फल

मूलादि को प्रक्षालित करते देख युवक अतिथि ने उसे रोक दिया।

'वत्से! मेरा वल्कल' महर्षि भारद्वाज उसी क्षण वहाँ पधारे।

'तात!' मुनि कन्या ने पिता के करों में वल्कल देते हुए कहा 'अतिथि आपके साथ ही मध्याह्न संध्या करने पधार रहे हैं। नैवेद्य वे आपके साथ ही ग्रहण करना चाहते हैं।'

'अतिथि को अग्रपूजा स्वीकार करनी चाहिये।' महर्षि ने विश्रवा की ओर देखा।

'मैं आज्ञा का उल्लंघन नहीं करूँगा।' अतिथि ने समझ लिया कि उन्हें तृप्त किये बिन महर्षि प्रसाद नहीं लेंगे और यह उचित आग्रह उपेक्षणीय नहीं था। अतिथि तृप्त होकर विश्राम करने लगे तभी गृहपति भोजन करे, इस शिष्ट परम्परा को भंग करने की इच्छा कोई कैसे कर सकता है।

'महर्षि पुलस्त्य मेरे वन्दनीय हैं।' महर्षि भारद्वाज ने विश्रवा से उस समय यह चर्चा प्रारम्भ की, जब कई दिन उनका आतिथ्य ग्रहण करने के अनन्तर वे मुनिकुमार अपने पिता के आश्रम पर जाने को प्रस्तुत हुए। 'आपके यहाँ पधारने से मैं गौरवान्वित हुआ। अब यदि एक अनुरोध आप मेरा स्वीकार कर लें।'

'मेरे लिए आप भी पितृ तुल्य हैं।' विश्रवा के स्वर सरल भाव शुद्ध थे—'मैं आज्ञानुवर्ती हूँ।'

'मेरी यह कन्या देववर्णिनी' महर्षि ने समीप स्थित पुत्री की ओर देखा—'आपके प्रस्थान का अनुमान करते ही व्याकुल हो उठी है। आप मेरी यह भिक्षा स्वीकार करके मुझे उपकृत करें।'

मुनिकुमार विश्रवा ने उस अवाङ्मुखी, नमित लोचना, ऋषिकन्या की ओर देखा। उन्हें अपने पूज्य पिता के वे वचन स्मरण आये—'वत्स! तुम्हें भविष्य आकृष्ट कर रहा है।' उन्होंने अपनी स्वीकृति दे दी—'आपके आदेश से मैं गृही बनता हूँ।'

'देव ! पुत्रवधू यदि अपने ही उटज में रहे।' महर्षि पुलस्त्य ने देखा कि उनकी धर्मपत्नी विनम्र भाव से उनसे अनुरोध करती सम्मुख उपस्थित हुई हैं।

'नारी है ही ममतामयी।' महर्षि को यह मोह रुचिकर नहीं हुआ था।

प्रयाग से उनके पुत्र मुनि विश्रवा जब सपत्नीक लौटे थे, उन्होंने पिता के आदेश से अपना नवीन आश्रम पिता के आश्रम के समींप ही बना लिया था। उस समय भी महर्षि की पत्नी यही चाहती थीं कि पुत्र-वधू समींप एक ही कुटीर में रहें।

'इस समय उसे मेरी सेवा की आवश्यकता है।' महर्षि कहीं प्रार्थना अस्वीकार न कर दें, इस भय से ऋषि-पत्नी ने अपनी बात स्पष्ट कर दी—'वह माता बनने जा रही है।'

'सृष्टि' अपने जगत्स्त्रष्टा पिता का आदेश स्मरण आया महर्षि को। उन सत्य-सङ्कल्प का सङ्कल्प ही तो चरितार्थ हो रहा है। लेकिन मोहने उनकी चित्त भूमि को स्पर्श नहीं किया था—'तुम पुत्र के उटज में ही पुत्र-वधू की सुश्रूषा करो।'

'श्रीचरण वहाँ नहीं पधारेंगे?' ऋषि-पत्नी के नेत्र भर आये। अन्ततः उनके पुत्र ने विवाह करके ऐसा क्या अपराध किया था कि पिता होकर भी महर्षि उसके उटज पर—इतने समींप के उटज पर भी—कभी नहीं गये हैं। इस समय जबकि पौत्र प्राप्ति का शुभ अवसर आया है, वे इतने तटस्थ क्यों हैं?

बड़ा स्नेह है ऋषि-पत्नी का अपने पुत्र तथा पुत्र-वधू पर। सहज स्वाभाविक स्नेह—नितान्त विनम्र एवं सेवा-परायण पुत्र-वधू पर उनका अनुराग भला क्यों न होता। पिता का आदेश मानकर विश्रवा ने अपनी पृथक कुटीर बना ली—बना ही मात्र ली थी। वे दम्पति उसमें कितनी देर रहे थे। उपासना एवं रात्रि के प्रहर का विश्राम—इतने के लिए था उनका उटज।

'वत्स! अब तुम गृहसथ हो।' महर्षि पुलस्त्य अनेक बार पुत्र से कहते थे—'तुम्हारा कर्त्तव्य अब पितृ-सेवा की अपेक्षा तप एवं ध्यान अधिक हो गया है।'

'श्रीचरणों की सेवा ही मेरी आराधना है।' विश्रवा ने पिता को ही आराध्य मान लिया था। वे अब भी एक अन्तेवासी के समान एकान्त निष्टा से महर्षि की सेवा में दत्तचित्त थे। रात्रि में द्वितीय प्रहर व्यतीत हो जाने पर वे अपने उटज में जाते थे और प्रातःकृत्य समाप्त होते ही पुनः पितृ-सेवा में उपस्थित हो जाते थे।

'वत्से!' महर्षि-पत्नी तो अपनी पुत्र-वधू की सेवा से द्रवित ही रहती थीं। 'तू दो-दो आश्रमों की स्वच्छता एवं व्यवस्था का श्रम करके श्रान्त होती रहती है।'

'मुझसे कोई अपराध हुआ मातः,' ऋषि-कन्या जब, अञ्जलि बाँधकर भरे नेत्र देखने लगती—'सेविका को सेवा-वञ्चिता करने का सङ्कल्प आपके मानस में कैसे उठा?' क्या कहें उस स्नेहमयी से वे।

'तू तन्वी है एवं कुसुम कोमला!' महर्षि पत्नी हँस पड़ती थीं—'मैं अपनी इस निधि को श्रान्त होते नहीं देखना चाहती।'

'इसे सेवा के पुण्यार्जन में सार्थक होने का सौभाग्य मिला है मातः!' पुत्र-वधू मस्तक धर दिया करती है उनके चरणों पर। यह भी कोई सोचने की बात है कि पुत्र नित्य महर्षि के फलाहार के पश्चात् माता के स्नेहाग्रह से वहीं भोजन करते हैं और पुत्र-वधू को भोजन कराये बिना महर्षि-पत्नी का हृदय मान कैसे सकता है। वही पुत्र-वधू आसन्नप्रसवा है और महर्षि उसे इस उटज में आने की आज्ञा नहीं दे रहे हैं। वे अपने पौत्र को प्रथम आशीर्वाद देने पधारेंगे, इसकी सम्भावना भी स्पष्ट नहीं दीख रही है।

'भद्रे!' महर्षि ने पत्नी के अवसाद को लक्षित कर लिया—'पिता ने मुझे सृष्टि का आदेश दिया; किन्तु पता नहीं क्यों, मेरे चित्त में उल्लास नहीं आया। एक अज्ञात आशङ्का मुझे यदा-कदा अभिभूत कर लेती हैं।'

'आशंका!' ऋषि-पत्नी भयभीत हो उठीं।

'मैं तामस जनों का कुल-पुरुष बनने को उत्पन्न हुआ हूँ।' महर्षि ने खेदपूर्वक क्षितिज पर नेत्र स्थिर कर लिये थे।

'हमारा पौत्र..... 'महर्षि-पत्नी भय के कारण वाक्य पूरा नहीं कर सकीं।

'हमारे पौत्र' लेकिन महर्षि ने भी अपना वाक्य पूरा नहीं किया। उन्होंने विषय परिवर्तित किया—'तुम अन्यथा आशंका मत करो। मैं तुम्हारे इस पौत्र को आशीर्वाद दूँगा।'

⌘⌘⌘

3. धनाध्यक्ष वैश्रवण—

'तात! आप किसका स्तवन कर रहे हैं?' अद्भुत प्रकृति है यह विश्रवाकुमार। ऋषि-पुत्र होकर भी उसमें महत्त्वाकांक्षा, उद्योग प्रावल्य एवं परिग्रह प्रवृत्ति है। आज वह अपने पिता को स्तुति करते देख सहसा पूछ बैठा है।

'देवराज इन्द्र की' मुनि श्रेष्ठ विश्रवा ने संक्षिप्त उत्तर दिया।

'पितामह उस दिन कह रहे थे कि केवल श्रीहरि ही सर्वेश्वर हैं।' बालक ने शङ्का की—'भगवान् शङ्कर एवं लोकस्रष्टा ब्रह्माजी उनके स्वरूप हैं। शेष सभी देव-ऋषिवृन्द जीव कोटि में ही आते हैं। जीव भी स्तवनीय हैं तात?

'देवराज लोकपाल हैं, अतः वे समस्त लोकों के द्वारा स्तवनीय हैं।' मुनि ने अभी पुत्र की जिज्ञासा में मनोयोग नहीं दिया था।

'लोकपाल' जैसे कुमार कुछ सोचने लगा हो। उसने पुनः प्रश्न किया—'केवल इन्द्र ही लोकपाल हैं?'

'अग्नि और वरुण भी हैं।'

'मैं भी लोकपाल बनूँगा।' कुमार सत्वर निश्चय पर आ गया—'समस्त लोकों को मेरा भी स्तवन करना चाहिये।'

'जीव का परम पुरुषार्थ श्रीहरि के पाद पद्मों में चित्त को लगा देना ही है वत्स!' मुनि श्रेष्ठ ने अब पुत्र की ओर ध्यान दिया—'कामनाओं की तुष्टि की बाञ्छा हेय है।'

'इन्द्र कैसे लोकपाल हो गये?' कुमार ने पिता के उपदेश पर ध्यान ही नहीं दिया। सम्भवतः वह अपनी धुन में सुन ही नहीं सका कि उसके पूज्य पिता ने कोई उपदेश दिया है।

'पूर्व कल्प के त्रेता में उन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञ किये।' मुनि विश्रवा ने भी समझ लिया कि उनका पुत्र अभी उस मनोभूमि में नहीं है, जहाँ उपदेश के बीज अंकुरित हो सकें। 'तुम जानते ही हो कि उनका एक नाम शतक्रतु है।'

'वरुण और अगिन ने भी यज्ञ ही किये होंगे।' कुमार ने मुख नीचे झुका लिया। वह यज्ञ के सम्बन्ध में चिन्तन करने लगा। सतयुग में अभी यज्ञ का प्रस्तार हुआ नहीं था। श्रुतियों में यज्ञों का वर्णन पढ़ा था मुनि-कुमार ने; किन्तु यज्ञ वह कैसे करेगा, वह अभी चिन्त्य विषय था।

'उन लोगों ने उग्र तप से स्रष्टा को सन्तुष्ट करके यह पद प्राप्त किया।' मुनिश्रेष्ठ विश्रवा ने शान्त स्वर में कहा।

'आप आज्ञा दें तात!' कुमार ने पिता की चरण-धूलि मस्तक पर चढ़ायी—'मैं तपस्या करके पितामह को तुष्ट कर लूँगा।' जब दूसरे उन सृष्टिकर्ता को सन्तुष्ट कर सकते हैं तो वह तो उनका प्रपौत्र है। तप—तप की क्या चिन्ता थी उसे। तप तो उसे माता-पिता से संस्कार रूप में सहज प्राप्त था। तपस्वी कुमार के लिए तो सहज सेव्य था।

'भगवन्! आपका पौत्र एकान्त तप की अनुमति चाहता है।' मुनिश्रेष्ठ विश्रवा महर्षि पुलस्त्य के चरणों में पुत्र को लेकर उपस्थित हुए—'इसकी माता इसके शैशव से चिन्तित है। उसने कई बार कहा कि यह संग्रह में रुचि रखता है। निष्प्रयोजन मणियों का संग्रह करता फिरता है। अब इसकी कामना.....'

'खेद का कारण नहीं है वत्स!' महर्षि पुलस्त्य ने शान्त स्वर में आश्वासन दिया—'नियति उसे आकृष्ट कर रही है। तप तो परम मंगलायतन है।'

'वह माता से अनेक बार अनुरोध कर चुका है कि एक मणिकुटीर आवास के लिए बना ले।' मुनि विश्रवा को आज सब स्मरण आ रहा है, जिस पर उन्होंने कभी ध्यान नहीं दिया। एक तपस्वी कुमार की यह प्रवृत्ति शुभाशंशी तो नहीं ही है। 'इसे न तृण कुटीर प्रिय है और न तैल दीप। तप से इसकी राजस प्रवृत्ति प्रवृद्ध होगी प्रभु!'

'उसके लिए उपयुक्त ही है उसका मार्ग। धनाध्यक्ष उटज में तो रहेगा नहीं।' महर्षि पुलस्त्य ने पौत्र के अत्यल्प वय पर भी ध्यान देना आवश्यक नहीं माना। उन्होंने आशीर्वाद दे दिया—'सफल काम हो वत्स!'

उस दिन जब केवल दस वर्षीय मुनिकुमार पितामह और माताके चरणों में प्रणत होकर मेरु के एक निर्जन शृङ्ग की ओर प्रस्थित हुआ—महर्षि

भारद्वाज की पुत्री देववर्णिनी ने अपनी पूजनीया सास के अङ्क में मस्तक रख लिया। उनके नेत्र भर आये थे। आज उन्हें विदित हुआ कि उनके मानस में मोहने स्थान बनाना प्रारम्भ कर दिया था।

'मुनिकुमार वैश्रवण चाहते क्या हैं?' उस दिन अमरावती में उल्लास नहीं रह गया था। अप्सराएँ पाटल पराग के आस्तरण को पदांगुलि से दबाये नतमस्तक हीनतेज स्थित थीं। कुसुमधन्वा ने स्पष्ट कह दिया था कि वे महर्षि पुलस्त्य के पौत्र के तप में विघ्न करने का साहस अपने अन्तःकरण में नहीं पा रहे हैं।

'दिव्य शत वर्ष हो चुके!' देवगुरु भी कोई मार्ग नहीं पा रहे थे। 'उस शिशु को न कोई भयभीत कर पाता और न कोई क्लेश क्षुब्ध ही करता। वह अप्सराओं की क्रीड़ा-भूमि में निर्विकार प्रत्याहार स्थिर रखने में सहज सक्षम हैं।'

'मुनिकुमार के तप के तेज ने नन्दन के सुमनों का सौन्दर्य म्लान कर दिया है।' देवराज ने चिन्ता स्पष्ट की—'सुरपादप के सुरम्य पत्र उनके तप की अग्नि से शीर्ण होते जा रहे हैं। और उनके प्राणायाम ने अब सुरों की प्रश्वास क्रिया में व्याघात उत्पन्न करना प्रारम्भ कर दिया है।'

'वे जगतस्त्रष्टा के प्रपौत्र हैं।' देवगुरु ने देवराज की ओर भाव भरे नेत्रों से देखा। 'सुरों की शक्ति उनका अभिभव करने में नित्य असमर्थ रहेगी।'

'हम तो उनके स्वागत को समुत्सुक हैं।' देवराज ने बिना संकोच सुनाया—'वे हम में-से किसी का पद-साम्य स्वीकार कर लें तो उनका अनुग्रह, अन्यथा श्रैष्ठ्य भी उनका हमें अस्वीकार्य नहीं है।'

'लोक पितामह ही अपने प्रपौत्र की सन्तुष्टि कर सकते हैं।' देवगुरु सदा ही सूत्र सम्भाषण करने के अभ्यासी हैं; किन्तु उनका तात्पर्य देव-सभा के सदस्यों ने समझ लिया था। अमरावती के अधीश्वर अपने सिंहासन से उठ चुके थे। सुरों के साथ उन्हें अब ब्रह्मलोक पहुँचकर ब्रह्माजी के चरणों में प्रार्थना करनी थी।

अन्नगत प्राण तो आज इस कलियुग में है। उस सतयुग में अस्थिगत प्राण थे और इसीलिए वह तप का युग था। तप—मुनिकुमार वैश्रवण ने उग्रतर तप

किया था—युगान्त दीर्घ तप। अस्थि एवं चर्म का एक ढाँचा खड़ा था सघन कानन के मध्य तृणाच्छन्न। अवश्य वह कोई कंकाल मूर्ति दिखायी देती यदि प्रखर तेज उसके अणु-अणु से प्रकीर्ण न हो रहा होता। लोक पितामह के सर्वदर्शी अष्टदृगों ने गगन से उस तेजोराशि को देखा और उनके मराल के पक्ष स्थिर हो गये।

'वत्स! मैं तुष्ट हुआ!' मराल मेरु की एक प्रशस्त शिला पर अवतीर्ण हो चुका था। पितामह के दक्षिण करने अपने कमण्डलु के अमृत सलिल के सीकर डाले उस कंकाल तेजोराशि पर और वह क्षण भर में सुपुष्टकाय, हेम-गौर तरुण दृष्टि पड़ा। लोक-स्त्रष्टा का स्वर स्नेह स्निग्ध था—'वरं ब्रूहि तपोधन!'

'वैश्रवण कृतार्थ हुआ आज!' तापस तरुण दण्ड की भाँति भूमि पर गिर गया। उसने कठिनाई से अपने वाष्परुद्ध कण्ठ को बोलने योग्य बनाया। 'लोकपाल होने योग्य यदि इस जन को आप समझें..........।'

'श्रीहरि स्वतः मेरी सहायता कर रहे हैं।' ब्रह्माजी ने भावपूर्वक तापस की ओर देखा—'प्रत्येक कल्प में चार लोकपाल होते हैं। अभी तीन का ही सृजन सम्पन्न हुआ था। मैं चौथे लोकपाल की सृष्टि करना ही चाहता था। वत्स! तुम चतुर्थ लोकपाल हुए। धनाध्यक्ष—निधिपतीश्वर का स्थान तुम्हें भूषित करे। तुम्हारे आरोहण के लिए मनोगामी पुष्पक तुम्हें प्राप्त होगा।'

तापस तरुण ने भूमि पर मस्तक रख दिया। उसने जब एक क्षण पश्चात् सिर उठाया— मराल के पक्षों से निस्सरित श्रुति के स्वर दूर गगन से उसे सुनायी पड़े। दिव्य पुष्पक विमान तपोभूमि में गगन से उतर रहा था।

'तात!' तपस्वी तरुण लौट आया था तपस्थली से और उसने पितृपदों में प्रणिपात कर लिया था—'यक्ष वर्ग ने मुझे अपना अधिपति अंगीकार किया है!'

'अपने पितामह को अभी तुम्हें अभिवादन करना है।' महामुनि विश्रवा को कोई उल्लास नहीं था। उन वीतराग के लिए यक्षाधिपत्य तथा निधि-पतित्व का अर्थ नहीं हो सकता था। उन्हें खेद ही था कि राजसवृत्ति ने उनके पुत्र को भ्रान्त कर दिया है और नश्वर ऐश्वर्य के पीछे उसने तपः शक्ति को

प्रयुक्त कर लिया है।

'भगवन्! लोक पितामह ने मुझे लोकपाल तो बना दिया, किन्तु.......' पितामह को प्रणिपात करने के अनन्तर वैश्रवण कह रहे थे—'मैं रहूँगा कहाँ? मेरे रहने की कोई व्यवस्था उन्होंने नहीं की।'

बात ठीक थी, कोई लोकपाल वृक्षों के नीचे या उटज में तो आवास बना नहीं सकता। वह लोकपाल है तो उसे भी अमरावती, आग्नेयी या विभावरी जैसी कोई पुरी चाहिये। धरा पर पुरी की बात तो दूर, अभी ग्राम तक नहीं थे।

'देवशिल्पी विश्वकर्मा ने एक हेमपुरी बना रखी है।' महर्षि पुलस्त्य ने पौत्र के मुख की ओर देखा और समझ लिया कि उसमें कोई उत्साह नहीं आया है। परस्व स्वीकार करना वह सात्त्विक कभी नहीं चाहेगा। 'वह बनायी तो राक्षसों के लिए गयी थी; किंतु भगवान विष्णु ने राक्षसों को संग्राम में पराजित कर दिया। उनके चक्र के भय से राक्षस पाताल में जा छिपे। अब उस पुरी पर किसी का स्वत्व नहीं। तुम उस हेमपुरी लङ्का को अपना आवास बनाओ।'

'लङ्का' वैश्रवण ने केवल जिज्ञासापूर्वक देखा।

'भारत के दक्षिण बिन्दु से सौ योजन दूर समुद्र के मध्य' महर्षि ने स्पष्ट किया—'त्रिकूट पर्वत के मध्य शिखर पर द्वादश योजन विस्तीर्ण लङ्कापुरी है। बड़ा रम्य एवं सुदृढ़ दुर्ग है।'[१]

'जैसी अज्ञा!' वैश्रवण ने गुरुजनों की चरण वन्दना की और उनकी अनुमति लेकर पुष्पक में आरूढ़ हुए।

'वत्स' कैसे आगमन हुआ तुम्हारा?' महर्षि पुलस्त्य ने अपने चरणों में प्रणत पौत्र को आशीर्वाद दिया और जब वह बद्धांजलि खड़ा हो गया तो पूछा—'कुशल तो है?'

'श्रीचरणों का आशीर्वाद—समस्त लोक कुशली हैं। निधि सम्पन्न हैं सम्पूर्ण पुण्यजन।' धनाध्यक्ष लोकपाल ने अपने उपयुक्त सम्वाद दिया। 'भगवन्! लङ्का पुण्यभूमि अजनाभ वर्ष का बहिर्भाग है। राजस भूमि है। वह।'

'तुम्हारा अभिमत वत्स?' महर्षि ने केवल प्रश्न किया।

---

१. अनुमानतः लक्काद्वीप समूह ही उस लंका के स्थान पर अब है।

'वह तो श्री चरण की शुभाशंसा से सम्पन्न है।' वैश्रवण ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—'मैं भगवान शशाङ्कशेखर के दर्शन करने गया था। कैलाश का पार्श्व अत्यन्त सुरम्य है और यक्षों ने वहाँ अलकापुरी निर्मित भी कर ली है।'

'वत्स! जगज्जननी उमा की अनुमति प्राप्त है तुम्हें?'

'वह तो नित्य प्राप्त है भगवन्!' वैश्रवण ने बताया—'वे तो सहज दयामयी हैं! भगवान कृत्तिवास का सान्निध्य प्राप्त होगा मुझे। उनका असीम अनुग्रह—वे इस तुच्छ दासको अपना अनुज कहते हैं। उनका सख्य—श्रीचरणों का भी सामीप्य प्राप्त रहेगा मुझे।'

'सौभाग्यशाली हो वत्स!' महर्षि पुलकित हो उठे। उन्होंने पहली बार पौत्र को खींचकर वक्ष से लगा लिया।

'तुम्हारे पुत्र को भगवान गंगाधर ने अपना मित्र मान लिया है।' महर्षि ने मुनि विश्रवा को समीप बुलाकर उल्लासपूर्वक सुनाया—'इसे भगवती पार्वती का स्नेह प्राप्त है।'

'कृतार्थ हुआ पुत्र!' मुनि विश्रवा भी आज प्रथम बार प्रसन्न हुए पुत्र पर। 'तुमने हमें पवित्र किया। भगवान शिव की सेवा ही तुम्हारा सर्वस्व बनी रहे।'

'पित:!' वैश्रवण के कण्ठ से स्वर व्यक्त नहीं हो पा रहा था। वे लोकपाल होकर भी इतने प्रसन्न नहीं हुए थे, जितने आज थे। आज ही उन्हें पिता तथा माता का भी हार्दिक स्नेह प्राप्त हुआ था। आज माता ने उन्हें हृदय से लगाकर अपने नेत्र जल से उनकी अलकों को आर्द्र करते हुए कहा था—'तुमने मुझे पुत्रवान् बना दिया वत्स?

'लङ्का मेरे यक्षों द्वारा रक्षित है तात!' चलते-चलते वैश्रवण ने कहा।

'अनावश्यक की रक्षा का अधिक आग्रह नहीं करना पुत्र।' मुनि विश्रवा ने उन्हें केवल एक सन्देश दिया।

⌘⌘⌘

4. दशग्रीव—

'कौन—कौन है यह? राक्षस श्रेष्ठ सुकेश का मध्यम पुत्र सुमाली आज दीर्घकाल के पश्चात् रसातल से अपनी कन्या कैकसी के साथ पृथ्वी पर निकल आया था। वह नीलाञ्जन पर्वताकार राक्षस अपनी वज्रमुष्टि बाँधे नेत्रों से गगन की ओर चौंककर देखने लगा था।

'यह प्रदीप्त अग्नि-शिखा के समान रत्नजटित विमान और उसकी यह विद्युद्गति! प्रकाश की रेखा के समान विमान आकाश में एक ओर से आया और दूसरी ओर एक शिखर पर उतर गया। 'हूँ तो यह ऋषि पुलस्त्य का पौत्र है और अपने पिता-पितामह की वन्दना करने आया है।'

'तात! विमान के तेज से उसके आरोही का तेज द्विगुण था।' राक्षस कन्या ने इतने शीघ्रगामी विमान में भी उसके आरोही को देख लिया था।

'निकषे! चलो, चलो; भवन लौट चलना है।' राक्षस कुमारी कैकसी निकष कृष्णवर्णा थी और इसीलिए उसे प्रायः लोग निकषा कहते थे। उस कन्या ने देख लिया कि उसके महान पिता गंभीर हो उठे हैं और इस समय वे किसी की कोई बात सुन नहीं सकेंगे। चुपचाप रसातल लौटते पिता का अनुगमन करना था उसे। 'एक समय था जब प्रहेति तथा हेति के वंशज पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण कर सकते थे।' सुमाली रसातल पहुँचकर अपने सौध में सिंहासन पर चिन्तामग्न बैठ गया था। वह अपने आप कुछ कह रहा था—'देव सभी हम तीनों भाइयों से काँपते थे; किन्तु विष्णु ने सुरों को संरक्षण दिया। विष्णु का चक्र—उस चक्र का कहाँ किसी के पास प्रतिकार है! हमें पराजित होना पड़ा। विश्वकर्मा निर्मित एवं दानवेश्वर मय द्वारा सज्जित राजधानी लङ्का का त्याग करना पड़ा हमें। विष्णु का चक्र......।' वह इस प्रकार कम्पित हो उठा, जैसे अब भी उस ज्वालमालावृत चक्र को प्रत्यक्ष देख रहा हो।

हमारा रसातल अमरावती से अधिक वैभवपूर्ण एवं रम्य है तात!' मूर्ति के समान पिता के पार्श्व में स्थित कैकसी अब बोल पड़ी।

'लेकिन हम चोरों की भँति यहाँ छिपे रहने को विवश हैं!' सुमाली ने कन्या की ओर दृष्टि उठायी—'तस्करों की माँद में रत्न राशि भी हो तो उसका क्या गौरव? वत्से! कर्मभूमि का स्वातन्त्र्य महान है। शक्ति की

उद्गम स्थली धरा ही है। हमारे लोक तथा अमरावती भी उपभोग का आवास मात्र हैं। उद्योग का अनुपम आनन्द यहाँ कहीं नहीं है!'

'तात......' लेकिन वह कन्या कुछ कह नहीं सकी। उसके महान पिता ने उसे बोलने नहीं दिया।

'तू नहीं समझेगी वत्से!' वे कह रहे थे—

'कल्पायुषां स्थान जयात्पुनर्भवात् क्षणायुषां भारत भूजयो वरम्' (भागवत) कही यह बात ऋषियों ने है; किन्तु तू जानती है न कि ऋषिवाणी कभी मिथ्या को अङ्गीकार नहीं करती।'

'तब हम भारत में अपनी आवास बनावेंगे।' कन्या ने उल्लासपूर्वक कहा।

'विष्णु का चक्र' सुमाली पुनः काँप गया। 'तू उसे भूल जाती है निकषे!'

'तूने उस विमानारूढ़ वैश्रवण को देखा था?' दो क्षण मौन रहकर राक्षस ने इस प्रकार नेत्र उठाये जैसे कोई मार्ग मिल गया हो। उसका मुख ओजोद्दीप्त हो उठा था—'वह तुझे प्रिय लगा?'

'वह अपने विमान से अधिक तेजस्वी था!' कैकसी ने बिना किसी उल्लास के सूचित किया—'लेकिन वह देवता जान पड़ता था।' स्वर में स्पष्ट अमर्ष था। 'केशिनी!' बड़े प्यार का नाम था यह कैकसी का। उसके केश पाद तल चुम्बी सुमनोहर थे। माता-पिता और दूसरे भी उसे जब बहुत स्नेह से पुकारना होता तो इसी नाम से पुकारते थे। पिता के इस सम्बोधन से ही उसने समझ लिया कि वे उसे प्रेम भरी बात कहेंगे। सुमाली ने सचमुच स्नेहपूर्वक कहा—'तू वैसे तेजस्वी पुत्र की आकांक्षा नहीं करती वत्से?'

'तात!' लज्जा से अरुण हो उठा मुख उस कुमारी का। उसने पिता को उलाहना देती दृष्टि से देखा। 'छिः! वत्से!' राक्षस खुलकर हँसा—'क्षुद्र मानवों की वह दुर्बलता कहाँ से आयी तुझ में! हम राक्षस सत्य को स्पष्ट स्वीकार करने में न झिझकते हैं और न लज्जा करते। स्त्री के लिए पति के सहयोग की आकांक्षा और पुत्र की प्राप्ति की कामना तो निसर्ग सत्य है। उसमें लज्जा क्या?'

'देख बेटी! तू अब वयस्का हो गयी है। विवाह तेरे लिए अनिवार्य है।' सुमाली ने स्नेह मृदुल स्वर में कन्या के स्कन्ध पर करतल रखकर कहा—'मैं राक्षस कुल का नायक हूँ। कोई कुलीन युवा मुझसे तेरी याचना का इसलिए साहस नहीं करता कि मैं अस्वीकार कर दूँगा तो उसकी अवमानना मानी

जायगी। तू जानती है कि मेरी कन्या का हरण करने का साहस न सुर कर सकते और न असुर।'

कैकसी ने मस्तक झुका लिया था। वह कुछ कहने की स्थिति में नहीं थी। उसकी समझ में यह नहीं आ रहा था कि आज उसके पिता उससे यह सब क्यों कह रहे हैं।

'तू भारत में रह सकती है। तू उस विमानारोही वैश्रवण के समान तेजस्वी पुत्र पा सकती है। तू अपने पितृकुल को धरापर पुनः स्वच्छन्द आवास का अवसर दे सकती है।' राक्षस सुमाली ने कन्या की ओर गम्भीर दृष्टि से देखा—'यदि तू महर्षि पुलस्त्य के पुत्र विश्रवा मुनि को वरण कर ले। वह धनाध्यक्ष कुबेर विश्रवा का ही पुत्र है।'

'मैं आज्ञा पालन करूँगी।' कैकसी ने संकोचपूर्वक कहा।

'देख वत्से! मैं प्रार्थना नहीं करूँगा। तू जानती है कि किसी से याचना, किसी की प्रार्थना मेरे स्वभाव में नहीं।' सुमाली ने अपनी बात स्पष्ट की—'मुझे सन्देह है कि मुझे सम्मुख देखकर वे मुनि मेरी कन्या को स्वीकार करेंगे।

कैकसी ने पिता की ओर देखा। उसके नेत्र पूछ रहे थे कि उसे क्या करने की आज्ञा है।

'तू स्वयं उनके समीप जा! तू स्वयं उन्हें वरण कर!' सुमाली ने कन्या का कन्धा हँसकर थपथपा दिया—'हमारे राक्षस कुल में किसी व्यर्थ आडम्बर या संकोच को सम्मान नहीं दिया जाता।'

'आज्ञा पालन करूँगी तात!' कैकसी शीघ्रतापूर्वक वहाँ से मुड़ पड़ी।

'बुद्धिमान है मेरी पुत्री!' राक्षस खुलकर हँस पड़ा।

गोधूलि की पावन बेला, पक्षियों के कलरव से आकुल तरु-शाखाएँ, मृग अब वृक्षों के नीचे तथा उटज के समीप एक हो चुके थे। दिशाएँ यज्ञीय कुण्ड के सुरभित धूम्र से धूसर हुई जा रही थीं।

मृण्मय वेदिकापर आसीन थे महामुनि विश्रवा। क्रोड़ी में पड़ी थे विकच पद्म पाणि। पीताभ जटाएँ अब भी स्नानार्द्र थीं। सायं सन्ध्या समाप्त हो चुकी थी। भगवान हव्यवाह आहुति प्राप्त कर चुके थे। मुनि के सुदीर्घ दृग शाम्भवी मुद्रा में ऐसे प्रतीत होते थे, जैसे प्रसुप्तोन्मुख पद्म में भ्रमर बन्दी हुए स्थिर हो गये हों। 'भद्रे! कौन हो तुम?' पता नहीं कब एक निकष कृष्ण, कमल-लोचना, सर्वाङ्ग सुन्दरी किशोरी महामुनि के वाम पार्श्व में समीप

आकर खड़ी हो गयी थी आगता रजनी की अधिदेवता के समान। ध्यानोन्मीलित दृग उन्निद्र हुए और उस अवाङ्मुखी बाला को देखकर मुनि ने पूछा—'इस कानन में तुम रात्रि मुख में कैसे उपस्थित हुई ?'

'आप सर्वज्ञ हैं स्वामी !' स्वर ने कोकिल की काकली को लज्जित कर दिया था—'मैं पिता की आज्ञा से श्रीचरणों में उपस्थित हुई हूँ और मेरा नाम कैकसी है। शेष ज्ञात कर लेने में आप समर्थ हैं।' वह अपने मृदुल पदाङ्गुष्ट से अवनि कुरेद रही थी।

'अनवसर में आर्यी शुभे!' मुनि के दृग दो क्षण के लिए पलकों के आवरण में रहे और पुनः उस नमितानन बाला से वे तपोधन बोले—'तुम सन्तान की कामना से मेरे समीप आर्यी; किन्तु यह घोर प्रदोषकाल है। मैं तुम्हारी वाञ्छा तो पूर्ण कर दूँगा; किन्तु तुम्हारे पुत्र प्राणियों को पीड़ित करने वाले उग्र स्वभाव के होंगे।

'नाथ!' कैकसी के नेत्रों में भय के भाव थे।

'प्रदोष भगवान रुद्र का काल है और वे विनाश के अधिदेवता हैं।' मुनि ने समझाया—'तुम इस घोर काल में आयी हो। नियति को अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। तुम्हारी सन्तान सृष्टि में भय एवं विनाश का विस्तार करने वाली होगी।' 'आप जैसे लोकवंद्य स्वामी से ऐसी सन्तति' वह कुमारी अत्यन्त आकुल हो उठी थी—'मैं आपकी शरणापन्ना हूँ। मुझ पर अनुग्रह करें नाथ!'

'तुम्हारे पितृकुल को मैं तीन दौहित्र दे सकूँगा' मुनि ने आश्वासन दिया—'उनमें एक भगवद् भक्त साधुशील, लोक नमस्कृत होगा।'

'मैं कृतकृत्य हुई!' कैकसी ने मुनि के चरणों पर मस्तक रख दिया।

'कैकसी कहाँ है मातः ?' सुमाली की दूसरी कन्या ने अपनी बहिन को बहुत ढूँढ़ा। जब वह कहीं नहीं मिली तो उसने अपनी माता से प्रश्न किया।

'मुझे ज्ञात नहीं वत्से!' राक्षसों की महारानी केतुमती ने अपनी कन्या को बताया—'तू अपने पितृपदों से पृच्छा करे।' 'तात!' निकष कहाँ है?' वह राक्षस कन्या चपलतापूर्वक पिता के समीप पहुँच गयी।

'उसे अब इस नाम से मत पुकार! केशिनी कह उसे!' सुमाली ने पुत्री को तनिक झिड़कते कहा—'वह राक्षस कुल को विपत्ति से त्राण देगी।'

'लेकिन वह है कहाँ?' सुवक्षा का कौतूहल बढ़ गया था।

'भगवान मरीचिमाली के समान तेजस्वी विश्रवा मुनि को उसने वरण कर

लिया है।' सुमाली ने कुछ सोचकर स्नेहपूर्वक कहा—'तू भी उसकी सपत्नी बन सकती।' 'सेविका तो बन ही सकती हूँ।' सुवक्षा सहसा गम्भीर हो गयी। वह वहाँ से धरा के मार्ग की ओर चल पड़ी।

'कृतार्थ हो कन्या का!' सुमाली ने हृदय से आशीर्वाद दिया था।

'शुभे! शयन नहीं किया तुमने?' महामुनि विश्रवा निद्रा से जागृत हो गये। उन्हें आश्चर्य हुआ कि उनकी अन्तर्वत्नी पत्नी इतनी रात गये उनकी चरण सेवा क्यों कर रही है। 'मैं उनकी अनुजा हूँ स्वामी!' मन्द एवं विनम्र स्वर सुनायी पड़ा—'निद्रा में व्याघात का अपराध क्षमा करें।'

'साधुशील, भगवद् भक्त पुत्र तुमने अपना भाग बना लिया।' मुनि ने अब जान लिया था कि यह उनकी पत्नी नहीं; किन्तु पत्नी बनने ही आयी पत्नी की अनुजा है। वे उसकी विनम्रता एवं सेवा से सन्तुष्ट हो गये थे।

'यह रोदन ध्वनि!' अल्पकाल पश्चात उटज से किसी के रुदन का उच्च स्वर सुनायी पड़ा। मुनि अपने आसन पर उठ बैठे। सुवक्षा दौड़ती हुई उटज में पहुँची।

'आपको पुत्र प्राप्ति हुई!' दो क्षण में ही मुनि विश्रवा उटज में पहुँच गये। उन्होंने सुवक्षा को समाचार देकर शीघ्रतापूर्वक उटज में जाते देख लिया था।

नीलाञ्जनघन, विंशतिबाहु, दसमस्तक—अद्भुत शिशु था वह। अत्यन्त रौद्र, बड़ा भयानक और घोर स्वर में वह रुदन कर रहा था। रात्रि में भी दिशाएँ उस समय प्राणियों के आर्तनाद से पूर्ण हो गयी थीं।

'दशग्रीव' महर्षि ने उस बालक को देखकर उसका नामकरण कर दिया।

'यह कुम्भकर्ण!' चतुर्थ प्रहर से पूर्व ही कैकसी के गर्भ से एक और पुत्र हुआ। इतना दीर्घकाय पुत्र कि सृष्टि में उसकी समता नहीं थी। उसके कुम्भाकार कर्णों को देखकर विश्रवा जी ने उसका नामकरण किया था। कैकसी के एक कन्या भी हुई सूर्पणखा।

आप भूलेंगे नहीं कि राक्षस उपदेव जाति है। राक्षसियाँ गर्भ धारण करते ही सन्तान को जन्म दे देती हैं और भगवती उमा ने वरदान दे रखा है कि उनके पुत्र उत्पन्न होते ही माता की अवस्था प्राप्त कर लें। उसी रात्रि ब्रह्ममुहूर्त में सुवक्षा को भी एक पुत्र प्राप्त हुआ। वे ही थे महाभागवत विभीषण।[१]

⌘⌘⌘

---

१. भयउ विमात्र बन्धु लघु तासू।

5. शक्ति की शोध—

'ये महानुभाव मातः?' दशग्रीव स्थिर दृष्टि से देख रहा था अपने पिता के पदों में प्रणत होते तेजोमय पुरुष को—'ये रत्नखचित विमान से पधारे हैं। स्वयं अत्यन्त तेजस्वी हैं। पितृपदों में इनकी अपूर्व श्रद्धा व्यक्त हो रही है।'

'ये तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता धनाध्यक्ष कुबेर हैं।' कैकसी तनिक सावधान होकर बैठ गयी। उसने देख लिया कि वैश्रवण पिता को प्रणिपात करके उसको अभिवादन करने पधार रहे हैं।

'कुशली भव वत्स!' स्नेहपूर्वक आशीर्वाद दिया कैकसी ने कुबेर को। उसके संकेत पर दशग्रीव तथा उसके अनुजों ने भी उन धनाध्यक्ष को प्रणाम किया—'ये तुम्हारे अनुज!'

'तुम प्रसन्न तो हो भाई?' धनाध्यक्ष ने दशग्रीव को अङ्कमाल दी—'नियति ने पितृचरणों की सेवा का सौभाग्य मुझे नहीं दिया। तुम उन तपोधन तथा माताओं की सेवा करके पुण्यधनी बनो।'

'आपका अनुग्रह!' दशग्रीव ने नम्रतापूर्वक कहा।

'देख रहा है!' धनाध्यक्ष के पिता की ओर लौटते ही कैकसी ने पुत्र को झिड़का—'वह भी तेरा भाई है। वह लोकपाल हो गया है। मुनिगण उसका स्तवन करते हैं। उसका तेज और उसका वैभव—स्पृहाहीन प्राणी तो नगण्य है। एक तू है कि इस बहेड़े के तपोवन में हीनसत्त्व पड़ा है। इतनी भी सामर्थ्य नहीं कि अपने अनुज की क्षुधा-शान्ति के साधन भी प्रस्तुत कर सके।'

'मातः मुझे क्षमा करो!' दशग्रीव के नेत्र प्रज्ज्वलित हो उठे—'मैं उसके समान या उससे भी महान बनकर रहूँगा।'

'तात!' अपने दोनों अनुजों के साथ दशग्रीव पिता के समीप उपस्थित हुआ—'हमें तप की अनुमति प्राप्त हो।'

'मङ्गल हो वत्स!' महामुनि विश्रवा ने आशीर्वाद दिया—'द्विज का सहज स्वभाव होना चाहिये तप। परम मङ्गलायतन है तपस्या सबके ही लिए।'

दशग्रीव, कुम्भकर्ण और विभीषण तीनों ही भाई उसी दिन मेरु के

शिखर से बहुत दूर पश्चिम समुद्र तट पर पृथक्-पृथक् स्थान चुनकर अपनी शैली से तपःलीन हो चुके थे। वह दक्षिण गोकर्ण-क्षेत्र दशग्रीव ने पावन तपोभूमि ही चुनी थी।

'क्षीण सत्व मुनिगण भला क्या तप करेंगे।' दशग्रीव के अहङ्कार ने उसे उत्तेजित किया—'मैं सृष्टिकर्त्ता को भी बता दूँगा कि तप कहते किसे हैं।'

'एक सहस्र वर्ष!' वर्षा, हिम एवं आतप कब आये, कब गये—यह उस महाप्राण को पता ही नहीं लगा। न क्षुधा-पिपासा ने उसके समीप पहुँचने का साहस किया था और न निद्रा के अलस-पद ही उसकी छाया का स्पर्श कर सके थे। वह स्थिर, शान्त, जागरूक स्थित रहा था एक प्रस्तर प्रतिमा के समान पूरे सहस्र वर्ष।

सहस्र वर्ष—जैसे हम आप घण्टे-दो-घण्टे कहीं एकाग्र बैठने के पश्चात् सहसा उठना चाहें। उसने अपने शरीर के आस-पास एकत्र मृत्तिकाराशि को अङ्ग-कम्पन से गिरा दिया। उखड़कर गिर पड़े उस मृत्तिका पर उगे तृण और वह उठ खड़ा हुआ जैसे पत्थर की एक दस मस्तक मूर्ति किसी अज्ञात की प्रेरणा से सहसा सजीव हो उठी हो।

सहस्र वर्ष—दशग्रीव को भी अपनी तपस्या की सहस्राब्दी मनाना आवश्यक ज्ञात हुआ। आज के मानव अपने नाम, अपने देह को इतना महत्व देते हैं। ये समाधि मन्दिर और कीर्ति मन्दिर, ये व्यक्तियों के चित्रों एवं मूर्तियों के अनावरण-स्थापना कार्य, ये जीवनियाँ और आत्म-कथाएँ—अन्ततः दशग्रीव इस आसुर परम्परा का संस्थापक न सही, वह विरोचन की परम्परा का महा उन्नायक तो था ही।

सहस्र वर्ष—रावण को तपस्या करते सहस्र वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसे अपने तप की सहस्राब्दी मनानी थी। उस अति मानव के योग्य ही तो हो सकती थी उसकी सहस्राब्दी।

उसने स्नान किया समीप सिन्धु की तरङ्गों में। वन से सूखी समिधाओं की राशि एकत्र की उसने और अरणिमन्थन करके महामुनि विश्रवा के उस वेदज्ञ पुत्र ने अग्नि को व्यक्त किया। समिधाओं की राशि जब प्रज्ज्वलित हो उठी—उसने परिसमूहन, परिमार्जनादि संस्कार सम्पन्न किये और तब उसका

एक कर ऊपर उठा......।

दिशाएँ काँप उठीं। मेघ के बिना ही गगन ने रक्त-वर्षा की। पशु—हिंस्रपशु तक चीत्कार कर उठे। दशानन के उठे कर ने अपने बढ़े हुए नखों से अपना ही एक मस्तक काट लिया था—इस प्रकार नोंच लिया था, जैसे किसी वृक्ष से पक्व फल तोड़ लिया हो। एक आकुञ्चन तक नहीं आया उसके भाल पर।

'क्रां कीं ब्रह्मणें नमः स्वाहा।' प्रज्ज्वलित हव्यवाह को आज एक होता ने अपने मस्तक की आहुति दे दी थी।

रक्तस्नात शरीर, छिन्न मस्तक ग्रीवाग्र-कोई चिन्ता नहीं हुई, कोई ध्यान तक नहीं गया इधर उस अद्‌भुत पुरुष का। उसने अपने तप की यह अपूर्व सहस्राब्दी सम्पन्न कर ली और स्वयं अट्टहास कर उठा।

अपने तपः स्थान पर वह सबल पदों से चलता पहुँच गया और फिर उसका वीरासन स्थिर हो गया। उसके शरीर से चलता रक्त प्रवाह—उसे पिपीलिका जैसे छुद्र जन्तु स्वच्छ कर सकते हैं, तब वह स्वयं क्यों व्यस्त बने। उसे इन व्यर्थ—हाँ, देह के ये कष्ट व्यर्थ बातें थीं उसके लिए और इन व्यर्थ बातों की ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। उसकी तपस्या अग्रिम सहस्राब्दी में प्रयाण कर चुकी थी और प्रकृति असमर्थ थी सहस्राब्दी पूर्ण होने से पूर्व उसे उत्थित करने में।

'मुनि विश्रवा के पुत्र अत्युग्र तपस्वी हैं।' भगवती भारती ने सृष्टिकर्त्ता के समींप हिमोज्ज्वल चामर लेते हुए कहा—'वैश्रवण ने देवताओं को भीत कर दिया था और उनके अनुज उनसे भी आगे हैं तितीक्षा में।'

'कठिनाई यही है कि ये देव-बान्धव नहीं हो सकते।' सृष्टिकर्त्ता ने सूचित किया—'दशग्रीव तो राक्षसों का अग्रणी बना-बनाया है। सृष्टि में वह रुद्र की ही सहायता कर सकता है और सन्तुष्ट करना चाहता है मुझे।'

'किन्तु अब वह दशग्रीव है कहाँ?' हंसवाहिनी के स्वर में कृपा थी—'उसने अपने नौ मस्तक हवन कर दिये आपके निमित्त और अब वह तपस्या के दस सहस्र वर्ष पूरे होने पर स्नान करने उठ चुका है। दो घड़ी पश्चात् उसकी समिधाएँ प्रदीप्त हो जायँगी और अपना अन्तिम मस्तक.........।'

'तुम अलक्षित रहकर मेरा साथ दो।' स्रस्टा ने वाणी की ओर दृष्टि

उठायी—तुम्हारी सहायता अपेक्षित होगी मुझे उस तपोवन में।

'मैं तो जानती हूँ कि केवल शेषशायी नीति का आश्रयण करते हैं अवसर विशेष पर। वाग्देवी के अधरों पर स्मित की ज्योत्सना प्रस्फुटित हुई।

'उनका पुत्र उनका पदानुसरण करे—अनुचित क्या है।' ब्रह्माजी ने कहा—'लेकिन दशग्रीव ठगा नहीं जायगा। उसने मुझे मस्तक दिये हैं—अक्षय मस्तक मिलेंगे उसे।'

दशग्रीव—लेकिन अब तो वह दशग्रीव नहीं है। अब तो केवल एक मस्तक है उसके विंशति बाहु शरीर पर। उसने अपनी तपस्या की नौ सहस्राब्दियाँ प्रज्वलित की हैं अपने नौ मस्तकों की आहुति देकर और अब उसके तप की यह दसवीं सहस्राब्दी है।

वह स्नान कर चुका है। समिधाएँ एकत्र कर ली हैं उसने। अरणिमन्थन सम्पन्न हो चुका है; ऊर्ध्वशिख भगवान हव्यवाह की लाल-लाल पलटें अब आहुति की प्रतीक्षा करने लगी हैं।

उसे और भय! वह उठा उसका एक दक्षिण कर। वे लगे उसके तीक्ष्णनख अपनी शेष ग्रीवा से। वह अपना अन्तिम मस्तक काटने जा रहा है—अभय, अविचल, निःसंकोच!

'अलं! अल! वत्स!' सहसा एक स्नेह मृदुल करने उस अद्भुत तापस का ग्रीवा पर पहुँचा कर पकड़ लिया—'मैं सन्तुष्ट हुआ तुम पर!'

वह गगन को गुञ्जित करती परावाणी। तपस्वी ने अपने सम्मुख अरुणवर्ण, चतुर्मुख, अष्टभुज, ज्योतिर्मय, स्रष्टा को साक्षात् देखा। उनके श्रीचरण धरा का स्पर्श नहीं कर रहे थे। उनके भव्यमुख प्रसादमञ्जु हो रहे थे और उनकी दृष्टि में अपार दया थी।

'मैं धन्य हुआ!' तापस के नेत्रों से प्रवाह फूट पड़ा। उसका स्वर भाव गद्गद हो उठा था। स्तवन करने में अपने को वह असमर्थ पा रहा था।

'वरं ब्रू हि!' लोकपिता ने उसे सम्बोधित किया।

'भगवन्!' सचमुच उसे सम्बोधन ने सम्बुद्ध कर दिया था—'समस्त प्राणी मृत्यु से भीत हैं। किसी वर का क्या महत्व जब उसे प्राप्त करने वाला एक दिन मरेगा ही। अतः मैं श्रीचरणों में अमरत्व की प्रार्थना करता हूँ!'

'दशग्रीव!' स्रष्टा का सम्बोधन पर्याप्त था। उसके समस्त मस्तक पुनः उग आये और वह अब सचमुच दशग्रीव हो चुका। ब्रह्माजी कह रहे थे—'निरपवाद अमरत्व अलभ्य है। मेरी सृष्टि ही सर्वत्र सापबाद धर्मी है। अतः तुम कोई अन्य वरदान माँगो।'

'हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुई बारे॥
दशग्रीव ने दो क्षण सोचकर वरदान माँगा।

'एवमस्तु!' लोकपितामह सन्तुष्ट हुए—'तुमने मुझे मस्तक अर्पित किये हैं। तुम्हारे ये मस्तक अवश्य अक्षय हो गये। कोई इन्हें काट भी ले तो दूसरे मस्तक तत्काल उग आवेंगे।'

भूमि पर गिरकर दशग्रीव ने प्रणिपात किया और जब उसने घुटने मोड़कर पुनः पृथ्वी पर मस्तक रखा—उसे सुनायी पड़ा—'अब से तुम और तुम्हारे अनुज एवं वंशधर इच्छानुसार रूप धारण करने में समर्थ होंगे।'

उसने मस्तक उठाया। कोई नहीं था उसके समीप। सृष्टिकर्त्ता अदृश्य हो चुके थे। वह महाप्राण दो क्षण में प्रकृतिस्थ हो गया और तब बड़े उच्चस्वर से अट्टहास कर उठा।

'मनुष्य और वानर! ये अल्पप्राण, हीनसत्व!' उसे स्पष्ट प्रतीत हुआ कि वृद्ध लोकस्रष्टा अब अधिक बुद्धिशाली नहीं रह गये हैं। वह उनकी वञ्चना करने में समर्थ हो गया है। मनुष्य एवं वानर भला उसका कभी भी क्या अहित कर सकते हैं—'निरपवाद अमरत्व अलभ्य है! निरपवाद अमरत्व से कहाँ हीन है यह अमरत्व!'
'अब?' दशग्रीव समीप की शिला पर बैठ गया। उसका तपोक्षीण शरीर स्रष्टा के स्पर्श से ही सुपुष्ट हो गया था। अब उसे अपने अग्रिम कर्त्तव्य को स्थिर करना था। 'अनुजों के आगमन की प्रतीक्षा करनी चाहिये मुझे।'

दस सहस्रवर्ष—उसके दोनों भाइयों को भी तो इतने ही वर्ष हो चुके तप करते। उनकी तपस्या भी अब फलवती होनी ही चाहिये।

अधिक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी दशग्रीव ने देख लिया कि दो विभिन्न स्थलों से उसके दोनों अनुज उसकी ओर ही आ रहे हैं। पर्वताकार कुम्भकर्ण प्रथम दिखा। दशग्रीव उसे अङ्कमाल देने बढ़ा; क्योंकि प्रथम उसे ही समीप पहुँचना था।

⌘⌘⌘

6. कुम्भकर्ण

'मातः क्षुधा!' उत्पन्न होते ही उस महाकायने एक समस्या उपस्थित कर दी थी।

'उटज में कुछ फल एकत्र हैं।' कैकसी ने अपने पुत्र को एक ओर संकेत किया; किन्तु उन फलों से क्या होना था। वे कुम्भकर्ण के मुख गह्वर में एक पूरा ग्रास भी नहीं बन सकते थे।

'तू व्यस्त मत बन!' उसने माता को निश्चिन्त कर दिया—'अपनी व्यवस्था मैं स्वयं कर लूँगा। फल एकत्र करके मेरी तृप्ति नहीं हो सकती'

क्षुधा—प्रचण्ड क्षुधा! जैसे किसी ज्वालामुखी का अन्तराल अहिर्निशि प्रज्वलित रहता हो और बेचारा कुम्भकर्ण—वह अपनी क्षुधा से पीड़ित था। उसकी क्षुधा तृप्त होना जानती ही नहीं थी। क्या पावे और उसे उदर में डाल दे।

उसे न किसी से द्वेष था, न उसे कोई महत्त्वाकांक्षा थी। उसकी क्षुधा शान्त हो जाय—बस, वह इससे अधिक कुछ नहीं चाहता। संसार में भोजन के अतिरिक्त भी कुछ वाञ्छनीय है—उसने नहीं जाना है। उसे जानने का तनिक भी अवकाश नहीं है।

क्षुधा—कुम्भकर्ण की क्षुधा, और आप जानते हैं कि अत्यन्त क्षुधातुर व्यक्ति अन्ध होता है। उसे उचित-अनुचित, स्व-पर, खाद्य-अखाद्य कुछ नहीं दृष्टि पड़ता। उस महाकाय ने अपने अग्रज एवं अनुज दोनों को कह दिया था कि वे उससे दूर रहें—विशेषतः जब तक वह कुछ दशक प्राणी उदरस्थ न कर लिया करे तब तक। उसने अपने पूज्य पिता के उटज की ओर जाना ही छोड़ दिया था और प्रातः तो मातृ चरणों में प्रणति के लिए भी उपस्थित नहीं होता था। माता ने उसे क्षमा कर दिया था इसके लिए।

'मैं अपने से ही भीत हूँ भ्रातः!' उसने एक दिन दशग्रीव से कहा था। उस सचल पर्वत को दूसरा कोई कैसे भयान्वित कर सकता था—'मैं क्षुधा के आवेग में नहीं देख पाता कि कौन मेरे करों में है और किसे मैं उदरस्थ कर रहा हूँ। स्वजनों के सामीप्य से इसीलिए दूर रहने का प्रयत्न करता हूँ मैं।'

यह ठीक है कि समीप के बहुत-से ऋषियों को उसकी जठराग्नि पचा चुकी थी; किन्तु आप उसे क्षमा कर देंगे। क्षमा तो कर दिया था उसे उसके मातामह सुमाली ने; जिसके अनेकों अनुचर अकस्मात कुम्भकर्ण के करों में पड़कर उसके ग्रास बन गये। अन्तत: असावधानी ऐसा अपराध तो है ही कि कर्त्ता को उसका दण्ड स्वत: भोगना पड़े। कोई उस प्रचण्ड महाकाय क्षुधान्ध के सम्मुख से अपसरित न हो सके तो क्या यह क्षम्य असावधानी है?

'कुम्भकर्ण आ रहा है!' शिलाएँ उसके वेग से लुढ़कती, टूटती जाती हैं। वृक्ष ही नहीं सम्मुख की वन पंक्ति दलित होती चलती है। महाकाल के समान वह नैकषेय अन्धड़ चलाता आता है। उसके आगमन की सूचना तो सर्वत्र अग्रिम पहुँच जाती है।

'कुम्भकर्ण आ रहा है!' केहरी भी प्राण बचाकर भागना चाहता है। गज, मृग, ऋक्ष, व्याघ्र, गवय, गैंडे—कुम्भकर्ण को भोजन चाहिये—बिना किसी भेदभाव के भोजन। जो भी प्राणी उसके योजन विस्तृत करों में आ जाय, वही उसका ग्रास है। वह कहाँ जिह्वा लोलुप है और उसका कहाँ किसी से द्वेष है। उसकी क्षुधा उसे स्वस्थ रहने दे तो वह सोचे कि किसी से उसका राग भी है या नहीं।

'कुम्भकर्ण आ रहा है!' अमरावती में आतंक का साम्राज्य व्याप्त हो जाता है। सुरो के सौरभ मण्डित भवनों के द्वार आवृत हो उठते हैं। सबको विदित है कि उस सचल मेरु को खण्डित करने में सुरेन्द्र का वज्र समर्थ नहीं। उससे त्राण तो किसी सुरक्षित स्थल में शरण लेकर ही पायी जा सकती है। वह कहाँ किसी का शत्रु है कि किसी विशेषका अन्वेषण करेंगा। वह तो केवल भोजन का अन्वेषण करता भटकता है। अब कोई उसे भवाटवी का अन्तक मान ले तो उसका दोष?

'मात:! मेरु पर सम्भवत: अब पशु रह नहीं गये।' एक दिन अत्यन्त खिन्नमन उस अतिप्राण ने कहा—'द्विपद पशु भी अत्यधिक सतर्क हो गये हैं और अमरावती के अधिवासी तो यदा-कदा ही मेरे करों में आते हैं। मुझे अब कहाँ जाना चाहिये?' 'वत्स! अमर अपने शत्रु हैं!' कैकसी ने पुत्र को प्रोत्साहित करने की इच्छा की।

'शत्रु-मित्र की बात पीछे सुनूँगा।' कुम्भकर्ण इस प्रपञ्च में कैसे पड़े।

उसके उदर में जो महाबाड़व प्रज्वलित है—'कम-से-कम एक दिन तो तृप्त होकर भोजन कर सकूँ।'

'कल प्रातः कुछ सोचकर कह सकूँगी।' कैकसी ने उस समय तो पिण्ड छुड़ाया। लेकिन क्या इस प्रकार पिण्ड छूट सकता हैं?

'चलो! सहसा दशग्रीव ने अपने अनुज का हाथ पकड़ लिया—'मेरे साथ चलो।'

'भ्रातः!' कुम्भकर्ण अत्यन्त उत्सुक होकर उठा—'कहीं पर्याप्त भोजन प्राप्त करने की व्यवस्था कर ली तुमने?'

'भोजन भी मिलेगा।' दशग्रीव ने कहा—'मैं सदा तुम्हे पर्याप्त भोजन मिले, ऐसी व्यवस्था करने चल रहा हूँ।'

'तुम कितने कृपालु हो भ्रातः!' वह महाकाय इतना सरल चित्त है—आप अनुमान तक नहीं कर सकते।

'शक्तिहीन को भोजन नहीं मिला करता। उसे जीवित रहने का भी अधिकार नहीं! दशग्रीव अपनी बात कह रहा था—'हम तीनों शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे!'

'शक्ति! शक्ति का प्राप्त करना क्या?' बात उस सचल पर्वत की समझ में कैसे आवे—'तुम आज्ञा दो तो मैं इस मेरु को उठाकर दूर फेंक दूँ।

कुम्भकर्ण अपने अग्रज को अबल नहीं मानता था। यदि उसका ज्येष्ठ भ्राता अपने को पर्याप्त शक्तिशाली नहीं समझता तो भी चिन्ता क्यों है उसे? उसका आज्ञापालक अनुज कहाँ उसकी सेवा में उपस्थित नहीं है।

'हम तीनों तनिक पृथक-पृथक रहकर तप करेंगे!' दशग्रीव ने तात्पर्य स्पष्ट किया—'कुछ सहस्त्र वर्ष—तब तक, जब तक कि स्वयं सृष्टिकर्ता सन्तुष्ट होकर प्रत्यक्ष न हो जायँ।'

'तब वे वरदान देंगे। कुम्भकर्ण की समझ में सीधी बात आयी—'मैं उनसे वरदान पा सकूँगा कि प्रतिदिन प्रचूर प्राणियों को भोजनार्थ प्राप्त कर सकूँ।'

'तुम उन सर्वशक्तिमान से यथेच्छ वर पा सकोगे!' दशग्रीव ने इस पर ध्यान

देना आवश्यक नहीं माना कि उसके अनुज की उत्कृष्टतम इच्छा क्या है।

'तुम प्रशस्त पथ-प्रदर्शक हो।' कुम्भकर्ण ने अग्रज की प्रशंसा की—'वैसे भी मैं नित्य क्षुधातुर रहता हूँ। कभी भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है। दो-चार ग्रास उदर में डालते रहकर जठराग्नि को उद्दीप्त किये रहने में जो असह्य कष्ट है, उसकी अपेक्षा सर्वथा उपवास अधिक उचित होगा मेरे लिए, और कुछ सहस्त्र वर्ष ही तो!'

कुछ सहस्त्र वर्ष—कुम्भकर्ण को ऐसा ही लग रहा था, जैसे आपको 'कुछ मिनट' कहने पर लगता है। वह तपस्या के लिए पूर्ण प्रस्तुत हो गया था।

'कुम्भकर्ण तपस्या करने लगा है। 'देवेन्द्र को तो देवर्षि की इस सूचना में आश्वासन ही मिला था। अब कुछ काल तो अमरावती उसके आक्रमणों से आश्वस्त रह सकती है।

'वह पूरे ग्रीष्म के दिवस पञ्चाग्नि में तप्त होता है।' नारदजी ने विवरण दिया—'पावस की झड़ियाँ निरन्तर अभिषेक करती हैं और शीत की तीनों ऋतुओं में वह हिमशीतल सलिल में आकण्ठ मग्न स्थिर रहता है।'

'वह वानप्रस्थ तो है नहीं!' देवगुरु ने इस तपः पद्धति पर शंका की। 'प्रत्येक कार्य उचित विधि एवं उचित अधिकारी द्वारा सम्पन्न होने पर ही उचित फल देता है।'

'नारद का कार्य तो सूचना देना है।' नित्य पथिक देवर्षि महेन्द्र के सिंहासन से उठ चुके थे। उनकी वीणा के तार झंकृत ही होने वाले थे—'कर्म मीमांसा तो करनी चाहिये सुरगुरु को।'

'तप भी कर्म तो है ही।' वृहस्पतिजी ने जैसे अपने आप ही कहा हो—'क्रियाविधि या कर्ता के अधिकार में वैपरीत्य होने पर फल में वैपरीत्य न्यायोचित है।'

कुम्भकर्ण तपस्या कर रहा था। वह मुनिपुत्र था, किन्तु उसने जो तपः पद्धति अपनायी थी, वह वानप्रस्थोचित पद्धति थी, वह वानप्रस्थ का धर्म था। कुम्भकर्ण के लिए वह 'परमधर्म' है—अनुमान तक नहीं किया था उसने।

'लोकपितामह दशग्रीव को वरदान दे चुके!' देवता अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे थे। स्त्रष्टा कुम्भकर्ण के समीप जा रहे थे। अन्ततः उसे भी तप करते दस

सहस्रवर्ष व्यतीत हो चुके थे।

'भगवन् आप इस लोक भयङ्कर असुर को वर मत दें।' एक साथ देवता, गन्धर्व, किन्नर, अप्सराएँ आदि आर्तनाद करते एकत्र हो गये थे।

'कोई दीर्घकालीन तप करे और उसे प्रतिफल न दिया जाय!' भगवान ब्रह्मा दो क्षण को रुके, उनके नेत्र उठे देवगुरु की ओर। नेत्र स्पष्ट सूचित कर रहे थे कि सुर एवं सुराधिप स्वार्थान्ध ऐसी प्रार्थना भले करें, सुरगुरु कैसे कह पा रहे हैं यह बात—'वरदान तपस्वी का स्वत्व है, पुरस्कार नहीं।

'अपनी सहजावस्था में भी यह सृष्टि के लिए भयावह आतंक है।' सुरगुरु ने विनीत प्रार्थना की—'इसने कितने मनुष्य एवं ऋषि-मुनि तक भक्षित किये—कोई गणना नहीं। इतर प्राणियों की मैं क्या चर्चा करूँ, खा तो डाले इसने अमराधिप के दस अनुचर एवं सात अप्सराएँ।'

'देवि!' सृष्टिकर्ता को अपनी सृष्टि के संरक्षण की चिन्ता स्वाभाविक थी। उन्होंने अनुगत सरस्वती की ओर देखा और सुरों को आश्वासन प्राप्त हो गया। भगवती वाग्देवी ने अपनी मूक स्वीकृति सूचित कर दी थी।

'वरं ब्रूहि वत्स!' लोकपितामह ने देखा कि उनके पहुँचते ही उनका यह पर्वताकार प्रपौत्र प्रणिपात करते पृथ्वी पर गिर पड़ा। पूरा एक कानन ध्वस्त हो उठा उसकी इस सामान्य अभिवादन क्रिया में।

'यदि यह नित्य भोजन करे एवं संचरण करता फिरे!' सृष्टि की सत्ता के सम्बन्ध में स्वयं स्रष्टा को सन्देह हो उठा। लेकिन शंका अकारण थी। उनके अलक्ष्यदर्शी दिव्य नेत्र देख रहे थे कि सरस्वती ने उसकी स्मृति आच्छन्न कर ली है और उसके मन एवं वाणी को अब केवल उनके संकेत को सार्थक करना है।

सारद प्रेरि तासु मति फेरी।
माँगेसि नींद मास षट केरी॥

'षट्मास की निर्बाध निद्रा और तब केवल एक दिन का जागरण!' जैसे कोई अर्धनिद्रित बोल रहा हो, कुम्भकर्ण ने वरदान माँगा—'मेरा जीवन इस प्रशान्त-विश्राम क्रम से व्यतीत हो!'

'एवमस्तु!' भगवान ब्रह्मा को प्रतीत हुआ, जैसे उन्हें वरदान मिला हो।

'एक विशेष बात—यदि कभी तुम्हारे स्वत: उन्निद्र होने से पूर्व तुम्हें सप्रयत्न जागृत किया जाय तो समझ लेना कि तुम्हारी आयु पूर्ण हो चुकी। तुम अब शाश्वत शयन के लिए जगाये गये हो और तुम्हारे राक्षस कुल के भी विनाश की यह सूचना होगी।'

'देव!' सहसा चौंक गया वह महाप्राण; किन्तु सृष्टिकर्त्ता उसे वरदान देकर अदृश्य हो चुके थे।

'तात!' खिन्न मन कुम्भकर्ण ने अपने अग्रज को सुनाया—'देवताओं ने मुझे वञ्चित किया!'

'अब चिन्ता अफल हैं' दशग्रीव को कुछ अधिक अनुचित नहीं प्रतीत हुआ। उसने भी आश्वासन का ही अनुभव किया। अब अपने इस अनुज के सम्बन्ध में उसे चिन्ता नहीं करनी पड़ेगी। 'विभीषण आ रहा है।'

'आप उसे अङ्कमाल दे लें! कुम्भकर्ण एक ओर चल पड़ा था—'मैं कुछ उदर में डालकर पितृचरणों में पहुँचता हूँ।' निद्रा का वेग प्रारम्भ हो चुका था।

⌘⌘⌘

7. विभीषण

'वत्स!' मुनि विश्रवा का स्नेह है अपने इस सबसे छोटे पुत्र पर। वे प्राय: इस सेवा-परायण विनम्र, कृष्णवर्ण, सुपुष्ट महाकाय को धर्मोपदेश किया करते हैं—'जो इस लोक में अभ्युदय एवं परलोक में कल्याण का साधक है, श्रुति उसी को धर्म कहती है।'

'तात! अग्रज तो कुछ और ही व्याख्या करते हैं।' विभीषण ने अपनी शङ्का उपस्थित की—'वे कहते हैं कि धारण करने की शक्ति का नाम ही धर्म है।'

'दशग्रीव प्रत्युत्पन्न मति है। उसमें अद्‌भुत प्रतिभा है। वह श्रुतियों को केवल स्मरण ही नहीं करता, उनका तात्पर्य समझने का भी प्रयत्न करता है।' कुछ खिन्न स्वर में कह रहे थे वे तापस मुनि—'किन्तु वत्स! वह उद्धत है। उसका चित्त भोग-परायण है और वह श्रुति का तात्पर्य भी आगम के समर्थन में समझता है।'

'श्रीचरणों ने ही उन्हें कहा था कि श्रुतिशास्त्र के आदेशों का सम्यक् पालन ही धर्म है।' विभीषण ने धर्म की इन विभिन्न परिभाषाओं का समन्वय जानना चाहा।

'ये सभी परिभाषाएँ एक ही सत्य को स्पष्ट करती हैं।' मुनि ने बताया—'अभ्युदय नि:श्रेयस जिससे सिद्ध हो वह धर्म है। उसी की शक्ति लोगों का धारण करती है। इन लोक-परलोक का वही धारक है, इसी से उसके आचरण से उभय लोकों में मंगल होता है। उसका बोध शास्त्र कराते हैं। श्रुति शास्त्र के आदेश ही उसके स्वरूप को स्पष्ट कराने वाले हैं।'

'विभीषण! पितृचरणों से शास्त्र चर्चा तो हम सदा कर सकते हैं।' सहसा दशग्रीव उपस्थित हुआ था—'हम अभी तप की अनुमति प्राप्त करें। कुम्भकर्ण मुझसे सहमत है और तुम्हें तो तप सहज प्रिय होगा।'

'आप तप करेंगे?' तनिक आश्चर्य हुआ विभीषण को। 'इस पुण्य में अनुज का स्मरण करके कृतार्थ किया आपने इस जन को।

पिता—तपस्वी पिता प्रसन्न होने ही थे अपने पुत्रों की इस पावन अभिरुचि

से। उन्होंने अनुमति और आशीर्वाद दे दिया।

गोकर्ण क्षेत्र के सुरम्य सागर तट पर सौम्य विभषण ने अपनी तपस्थली निर्धारित की। पुष्पित नीम के नीचे सुचिक्कन सम शिला पर स्नान एवं देवार्चन के पश्चात् वे महाभाग एक पाद खड़े हो गये। उन्होंने अपना वामपाद उठा लिया था। हाथ जोड़ रखे थे और नेत्र अर्धोन्मीलित हो रहे थे।

मौलिश्री के सुमन उनके केश पाशों को निरन्तर भूषित करते रहे। पक्षियों ने उनके विशाल स्कन्धों को अपना क्रीड़ा स्थल बनाया। अनेक बार मृगशावक उनके चरण से अपनी गात्रकण्डू मिटा लेते थे।

'हृदय के अरुण अष्टदल की कर्णिका परमोज्ज्वल है भगवान भास्कर की स्थिति से और उनके अङ्क में पूर्ण निशानाथ शान्त शयन करते हैं। सुधांशु के मण्डल के मध्य अग्नि की ऊर्ध्वशिखा लपटों से घिरा एक षटकोण पीठ है। उस पीठ पर स्थित है एक नीलोज्ज्वल ज्योति। वह अंगुष्ठ परिमाण अन्तर्यामी परमपुरुष—कितनी करुणार्द्र है उनकी दृष्टि।' विभीषण ध्यानस्थ थे। अविचल अखण्ड ध्यान चल रहा था।

ऋतुएँ आयीं और गयीं। वर्ष व्यतीत होते गये और व्यतीत होती गयीं शताब्दियाँ। पूरे पाँच सहस्त्र वर्ष पर विभीषण के नेत्र खुले। उनके श्रवणों ने सुना कि गन्धर्व उनका—अवश्य उनका ही गान कर रहे हैं। देवता गगन से उन पर कल्पपाद के पुष्प अर्पित कर रहे हैं और अप्सराएँ आनन्द नृत्य कर रही हैं।

इस महोत्सव की ओर ध्यान देने का अवकाश उस महाभाग को नहीं था। वे तो अपनी शिला से शान्त पदों से उतरे। समुद्र स्नान करके अर्घ्य अर्पित किया भुवन भास्कर को और जैसे कोई नैष्ठिक व्रती प्रातः कृत्य समाप्त करके मध्याह्न सन्ध्या प्रारम्भ कर रहा हो—अपनी शिलापर वे पुनः पहुँच गये।

इस बार वाम चरण शिला पर स्थित था और दक्षिण पद उठ गया था। दोनों भुजाएँ ऊपर उठा दी थीं उन्होंने और कण्ठ से अनवरत श्रुति के मन्त्र उद्घोषित हो रहे थे।

भूर्भुवः स्वः इन तीनों का परम प्रकाशक जो सविता है—वही अन्तर्यामी

की विराट में व्यापक ज्योति– विभीषण के नेत्रों के लिए वह नित्य ज्योति गगन में स्पष्ट साकार प्रत्यक्ष थी और वे उसे अपलक देखते उसी का श्रुति के मन्त्रों से स्तवन कर रहे थे। परावाणी आज इस पावन कण्ठ को प्राप्त कर सार्थक थी।

'वत्स! वरं ब्रू हि!' कब इस प्रकार स्तवन करते पाँच सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये, विभीषण को पता नहीं वे तो चौंके तब, जब अकस्मात् गगन की वह आराध्यमूर्ति अदृश्य हो गयी और कर्णों में लोकोत्तर नाद पड़ा। भगवान ब्रह्मा अभय कर उठाये प्रसन्न स्मितवदन सम्मुख उपस्थित थे। विभीषण उन लोक-पितामह के पाद पद्मों में दण्ड की भाँति गिर पड़े।

'वरं ब्रू हि वत्स!' पितामह ने पुनः प्रसन्न वाणी में पुकारा–'मैं प्रसन्न हूँ।'

'धर्मे मति हरे भक्ति!' गद्गद कण्ठ विभीषण के हृदय ने पुकारा और वे बद्धाञ्जलि बोले–'प्रभो! दारुण विपत्ति में भी मेरी बुद्धि धर्म में स्थिर रहे और श्रीहरि के चरणों में मेरा अविचल अनुराग हो!'[१]

'वत्स! ये तो तुम्हें सहज प्राप्त हैं!' भगवान ब्रह्मा कर रहे थे–'अन्ततः राक्षस कुल तुम्हीं से रक्षित होगा। कल्पान्त अमरत्व मेरा प्रसाद मानकर स्वीकार कर लो और मेरे दर्शन का यह उपहार प्राप्त करने के तुम सर्वथा योग्य हो कि ब्रह्मास्त्र तुम्हारी सेवा से सार्थक हो। तुम्हें उसे शिक्षण द्वारा प्राप्त नहीं करना पड़ेगा।'

माँगकर जो अमरत्व दशग्रीव अपने मस्तकों की आहुति देकर भी नहीं पा सका, उसी दिन उन्हीं लोकस्रस्टा ने वही अमरत्व विभीषण को देकर भी अपना सम्मानानुभव किया कि उस महाभागने उनका आशीर्वाद अस्वीकार नहीं किया।

'आत्मवत् सर्वभूतेषु' विभीषण समझते हैं कि वे अग्रज से तर्क नहीं कर सकते। दशग्रीव इधर वेद वेदाङ्ग के अध्ययन में लग गया है और वह अपनी पृथक ही परिभाषा करता है समस्त श्रुतियों की। आज उसने अकस्मात् विभीषण से व्यवहार का आदर्श पूछ लिया और वे अपनी सम्मति मात्र दे रहे हैं–'जिस प्रकार के आचरण की हम औरों से अपने प्रति अपेक्षा करते हैं,

---

१. सो माँगेउ भगवन्त पद कमल अमल अनुराग।

वैसा ही आचरण औरों के साथ हम स्वयं करें!'

'मैं अपेक्षा करता हूँ कि शत्रु मुझ पर कोई दया न करें। वे प्रचण्ड आक्रमण करें।' दशग्रीव ने हँसते हुए कहा—'अतः मैं उन पर प्रचण्ड आक्रमण करूँ तथा उन पर दया दर्शित करने की कोई चेष्टा न करूँ। इससे तुम सहमत हो।'

'मैं सहमत हूँ भ्रातः।' विभीषण के उत्तर ने एक बार दशग्रीव को चकित कर दिया। उसे स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि उसका यह प्रशान्त अनुज किसी के भी उत्पीड़न का समर्थक बन सकेगा। लेकिन चकित होने जैसी कोई बात नहीं थी। विभीषण कह रहे थे—'किन्तु संसार में कोई प्राणी किसी का शत्रु कहाँ है। शत्रु तो हैं अपने ही अन्तःकरण में। काम, क्रोध, मद, मत्सर, लोभ, मोह, मात्सर्य—इन सभी शत्रुओं पर दयादर्शित करना नितान्त अनावश्यक है।'

'तुम सुरूप गृहसंचालक हो सकते हो!' दशग्रीव ने देखा अपने शान्त अनुज की ओर—'स्वजनों का संरक्षण एवं अभिवर्द्धन तुम पर निश्चिन्त निर्भर रह सकता है।'

'मैं समझ नहीं पाया!' विभीषण सचमुच नहीं समझ सके थे कि उनका अग्रज उनसे क्या चाहता है।

'विभीषण! देखो मातामह अपने पर्याप्त अनुचरों के साथ अब आश्रम में रहने लगे हैं।' दशग्रीव ने अपना तात्पर्य स्पष्ट किया—'आवश्यकता है कि उनकी व्यवस्था सुचारू रूप से हो। तुम इस दायित्व का निर्वाह भली प्रकार कर सकते हो।'

'भ्रातः! मैं आपका अनुगत हूँ।' विभीषण ने नम्रतापूर्वक प्रार्थना की—'व्यवस्था के वहन का गौरव ज्येष्ठ के अनुरूप है। यह कनिष्ठ आज्ञा का अनुवर्तन करेगा।'

'तुम जानते हो कि व्यवस्था में मेरी अभिरुचि नहीं है। मैं विजगीषु हूँ, शास्त्र में और शस्त्र में भी। साथ ही मुझे अटन आकर्षित करता है।' दशग्रीव ने सस्नेह समझाया—'मैं आवश्यक आदेश देता रहूँगा। स्वजनों की सेवा का भार तुम स्वीकार कर लो।'

किसे पता था कि 'स्वजनों की सेवा' का यह भार निकट में ही विभीषण

को राक्षसराज के पूरे साम्राज्य का वास्तविक नियन्ता बना देने वाला है। दशग्रीव को ही कहाँ पता था कि वह शीघ्र लंकाधिपति होगा और लंका का वास्तविक नियन्ता तो विभीषण को ही उसे बनाना ठहरा।

राक्षसराज हुआ दशग्रीव—सम्मान एवं शासन की घोषणा के अनुसार तो यह सदा सत्य था; किन्तु वस्तु सत्य यही हुआ कि लङ्का के शासन का सञ्चालन विभीषण के करों में सुरक्षित रहा।[१]

'मैं स्वयं रूक्ष प्रकृति हूँ।' श्रुति पारद्रष्टा दशग्रीव अपने सम्बन्ध में भ्रान्त रहेगा, यह सोचने वाला मूर्ख माना जायेगा। उसने कहा—'मातामह एवं उनके अनुगत भी उग्र प्रकृति के हैं और स्वजनों के प्रति सहज सदय रहे बिना उनकी समुचित सुव्यवस्था की नहीं जा सकती। निसर्ग सौम्य स्वभाव तुम्हारा इस सम्बन्ध में मेरी सहायता करेगा विभीषण!'

विभीषण ने कहाँ अपने गुरुजनों के आदेश की अवहेलना सीखी थी। उन्होंने मस्तक झुकाकर अपने अग्रज का आदेश स्वीकार किया। इसका स्पष्टार्थ है कि उसी दिन वे राक्षस कुल के व्यवस्था संचालक हो गये। उसी दिन दशग्रीव निश्चिन्त हो गया गृहव्यवस्था से।

'दशग्रीव! तुम्हारा कनिष्ठ भाई अद्‌भुत है। उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता किसी के कुछ समझाने का।' आज सुमाली ने दशग्रीव के सम्मुख अपनी समस्या उपस्थित की।

'वह किसी गुरुजन की अवज्ञा नहीं करेगा।' दशग्रीव ने कोई विशेष ध्यान दिया हो मातामह की बात पर, ऐसा प्रतीत नहीं होता था—'वह सहज सौम्य है। शालीन है वह तात!'

'उसकी शालीनता उसके मातृकुल के गौरव के अनुरूप जो नहीं है।' सुमाली ने स्पष्ट किया अपना विचार—'वह तुलसी के झंखाड़ लगाता फिरता है अपने आवास के समीप और सुरों के स्वामी का स्मरण अर्चन करता है।'

'ऐसा तो तातचरण भी करते हैं।' दशग्रीव ने इस बार अद्‌भुत भाव से देखा मातामह की ओर—'आप क्या सोचते हैं कि हम उनसे शत्रुता कर लें!'

'नहीं—ऐसा कब कहा मैंने!' सुमाली हिचक गया। वह परम नीतिज्ञ

---

१. 'करत राज लङ्का सठ त्यागा।'

वृद्धव्याघ्र—अपने इस दौहित्र पर ही उसकी समस्त आशा अवलम्बित है। इस दशग्रीव की शक्ति एवं सहज शौर्य में उसे राक्षस कुल का समुत्थान दर्शित होता है। इसे वह असन्तुष्ट नहीं कर सकता—'मेरा तात्पर्य इतना ही है कि उसका शील तुम्हारा समनुवर्तन नहीं करता।'

'मैं उद्धत हूँ और वह सौम्य है!' हँसा खुलकर दशग्रीव—'उसकी अभिरुचि मुझसे भिन्न है, यही तो?'

'कम-से-कम स्वजनों का रुचि स्वातन्त्र्य हमें सहन करना चाहिये!' दशग्रीव गम्भीर हो गया था—'अन्यथा हम परस्पर ही शत्रु हो उठेंगे और हमारा यह दौर्बल्य शत्रुओं को सुखद होगा।'

'नीतिज्ञ हो वत्स!' सन्तुष्ट हो गया सुमाली।

'विभीषण मेरे व्यवहार के सम्बन्ध में मुझसे विवाद नहीं करता।' दशग्रीव ने उसी गम्भीरता से कहा—'स्वजनों के संरक्षण के लिए उससे अधिक सौम्य, शालीन, सदय सहायक मैं नहीं प्राप्त कर सकता। उसे अपने आचरण में हमें स्वतन्त्रता देनी चाहिये।'

विभीषण को अपने आचरण-अर्चनादि सम्बन्धी पूर्ण स्वातन्त्र्य प्राप्त हो गया राक्षस समुदाय के मध्य।

⌘⌘⌘

8. राक्षस राजधानी—

'तात!' आज दशग्रीव अत्यन्त विनम्र हो गया था। उसने अपने पिता के चरणों में प्रणाम किया और बद्धाञ्जलि खड़ा हो गया।

'मातामह कहते हैं' संकेत से ही मुनि विश्रवा ने उसे अपनी बात कहने का आदेश दिया था—'सागर के द्वारा सुरक्षित त्रिकूट शिखर है। उसके मध्य शिखर पर स्वर्णपुरी है। वह लङ्का राक्षस कुल की सदा की निवास भूमि है। यदि आप अनुमति दें......।'

'तू अपने अग्रज से विवाद करना चाहता है?' मुनि के नेत्रों में तनिक रोष की रेखाएँ व्यक्त हुईं—'कुबेर ने मेरी आज्ञा से ही उस रिक्तपुरी में अपना अधिकार स्थापित किया!'

'वे लोकपाल हैं। अन्य लोकपालों के समान मेरु पर ही उनकी राजधानी सुशोभित होती है।' दशग्रीव विनम्र बना रहा—'लङ्का अनावश्यक है उनके लिए और तात चरणों से अविदित नहीं कि उनका यह पुत्र तपोवन में नित्य निवास के अयोग्य है।'

'तू यदि औद्धत्य करेगा' महर्षि रुष्ट हो चुके थे—'तो नष्ट हो जायगा!'

दशग्रीव मस्तक झुकाकर लौट गया। वह आज हतप्रभ हो चुका था। अपने ही आत्मज को महामुनि शाप दे देंगे, यह आशङ्का उसे स्वप्न में भी नहीं थी।

'मेरे दौहित्रों ने स्रष्टा को सन्तुष्ट कर लिया!' सुमाली सदा अपने दौहित्रों के समाचार के लिए सचिन्त रहा था। वह परम प्रसन्न हुआ था उस दिन—उन्होंने अमरत्व तक का वरदान प्राप्त कर लिया।'

वह अपने भाइयों, पुत्रों तथा अनुचरों के साथ आ गया महर्षि विश्रवा के आश्रम में। उसने वहीं उस बहेड़ों के वन में अपना आवास बना लिया।

'तुम्हारे पिता तुम्हें शास्त्र-ज्ञान देंगे और मैं तुम्हें शस्त्र संचालन की शिक्षा दूँगा।' उसने दशग्रीव से प्रस्ताव किया। उसका प्रस्ताव सहज स्वीकृत था; क्योंकि दशग्रीव को पिता से ज्ञात हो चुका था कि धनुर्वेद में पारंगत सुमाली के समान मिलना सहज साध्य नहीं था।

'अमर होकर भी विभीषण अनुपयुक्त है अपने लिए।' सुमाली ने एक दिन अपने पुत्र प्रहस्त से सखेद कहा—'उसका सौम्य शील उसके पिता के अनुरूप भले हो, मातृ कुल को गौरवान्वित नहीं कर सकता।'

'दशग्रीव अमर न सही अमरप्राय ही है।' प्रहस्त ने सच्ची बात कही—'वह आपकी आशा साकार करने में समर्थ है और इस प्रकार की रुचि भी है उसमें; किन्तु.........।'

'हम उसे अपना अधीश्वर स्वीकार कर लेंगे।' सुमाली ने बिना हिचके बताया—'मैं जानता हूँ कि वह किसी का अनुवर्ती नहीं रह सकता। राक्षस कुल सदा से शक्ति का उपासक है। दशग्रीव सर्वाधिक शक्तिशाली है तो उसको सम्मानित करने में हमें संकोच क्यों होने लगा।'

'चतुर्दिक उत्ताल तरङ्गों से उमड़ता महासमुद्र—भूमिका निकटतम भाग वहाँ से शत योजन है। अगम्य सागर के ऊपर वहाँ तीन शिखरों का त्रिकूट पर्वत मस्तक उठाये खड़ा है। त्रिकूट का मध्य शिखर चारों ओर से सुचिक्कन एवं उत्तुङ्ग—पिपीलिका भी वहाँ चढ़ जाने का साहस नहीं कर सकती।' सुमाली आज अपने पूर्व निवास का वर्णन कर रहा था—'उस मध्य शिखर का ऊर्ध्व भाग अत्यन्त विस्तीर्ण है। विश्वकर्मा ने भगवान ब्रह्मा की आज्ञा से उस स्थान पर तीस योजन चौड़ी तथा सौ योजन लम्बी लङ्कापुरी निर्मित की।'

दशग्रीव लङ्का की चर्चा कई बार अपने मातामह से सुन चुका है। आज वह पूरा वर्णन सुनने को समुत्सुक शान्त बैठा है।

'स्वर्ण की भित्तियाँ एवं बाह्य परिखा। स्वर्ण के ही सुविशाल द्वार एवं तोरण। स्वर्णपुरी लङ्का सृष्टि के प्रारम्भ में ही स्रष्टा के आदेश से राक्षसों को प्राप्त हुई।' दीर्घश्वास ली सुमाली ने—'विश्वकर्मा ने अपना सम्पूर्ण कौशल उसे निर्मित करने में व्यय कर दिया था। इतने पर भी वह अपूर्ण लगी हमारे सम्मान्य दानवशिल्पी मय को। उन्होंने उसे सज्जित करने का दीर्घकालीन श्रम स्वीकार किया।'[१]

'सुरों को यह हमारा वैभव सह्य नहीं हो सकता था।' सुमाली के दृगों की अरुणिमा अंगार बनी—'विष्णु ने उनका साथ दिया और भाग्य सुरों का

१. 'सोइ मय दानव बहुरि सँवारा।'

सहचर हो गया। हम रसातल में आश्रय लेने को विवश हो गये।'

'लङ्का आपकी नगरी है?' दशग्रीव ने अचानक मातामह की ओर देखा—'आपका स्वत्व है उस पर?'

'स्रस्टा ने उसे राक्षसों को दिया। वह हमारे पूर्वजों की पवित्र राजधानी है।' सुमाली के नेत्र दशग्रीव के मुख पर स्थिर हो गये—'मातामह की सम्पत्ति दौहित्र का स्वत्व बनकर सार्थक होती है; किन्तु वत्स! सत्य यह है कि धरा एवं धन किसी का स्वत्व नहीं। जिसके बाहु बलशाली हों, वही उनका स्वामित्व प्राप्त करता है।'

'दशग्रीव के बाहु दुर्बल हैं?' अरुणाभ हो उठे दशानन के आनन्द—'आपको यह सन्देह हो रहा है।?'

'तुम समर्थ हो। राक्षसकुल तुम्हें अधीश्वर प्राप्त करके धन्य होगा।' सुमाली सोल्लास बोला—'लेकिन रक्षोधिराज का अभिषेक तो उनकी राजधानी में ही सम्पन्न हो सकता है?'

'आप मुझे मेरे अग्रज के विरुद्ध उभाड़ रहे हैं।' दशग्रीव का रोष शान्त हो चुका था; वह आज अपने मातामह को सशंक देख रहा था—'वे मेरे पूज्य हैं लङ्का इस समय उनके अधिकार में है। तातचरण भी नहीं चाहते कि मैं उसे प्राप्त करने का अनुचित आग्रह करूँ।'

'तुम स्वयं नीतिज्ञ एवं सुचतुर हो वत्स!' सुमाली शान्त हो गया। उसने समझ लिया कि आज उसका प्रस्ताव अनवसर हो गया है। अभी दशग्रीव की मनोभूमि उसके अभीष्ट के अनुरूप नहीं है। लेकिन वह क्या निराश हो जायेगा? छिः! सुमाली और निराश! वह अवसर की प्रतीक्षा करेगा। वह ठीक जानता है कि उसे अवसर मिलकर रहना है।

'तुमने तातचरण की अवज्ञा करके अच्छा नहीं किया दशग्रीव!' प्रकाण्ड कूटनीतिज्ञ प्रहस्त एकान्त में पिता की प्रेरणा प्रदीप्त करने पहुँचा था—'दैव दुर्विपाक है कि वे दुर्दम आज इस दशा में हैं। त्रिभुवन त्रस्त रहता था उनके भ्रूभङ्ग मात्र से और असुर-शत्रु सुरेन्द्र तो अब भी उनसे सशंक रहते हैं। तुम पर उन समर्थ का सहज स्नेह है।'

'किन्तु मातुल!' दशग्रीव ने देखा प्रहस्त की ओर।

'सौतेले भाइयों की शत्रुता सनातन सत्य है, तुम इसे क्यों नहीं समझते।' प्रहस्त ने अपनी बात पुष्ट करने के लिए प्रमाण देने प्रारम्भ किये—'देवताओं के ज्येष्ठ भ्राता हैं दैत्य; किन्तु तुम जानते हो कि देवता नित्य शत्रु हैं दैत्यों के। कद्रू और विनता सपत्नी हैं; किन्तु विनता-पुत्र गरुड़ का कद्रू के वंशज नागों से क्या व्यवहार है, इसे भी मुझे बतलाना है? तुम कृतप्रज्ञ अधीतविद्य हो, सापत्नेय भ्रातृवर्ग में स्नेह मिलताा भी है तो अपवाद है।'

'विभीषण मेरा स्नेह-भाजन है मातुल!' दशग्रीव ने आपत्ति की प्रहस्त के तर्क पर।

'तुम भी ऐसा तर्क करते हो?' खुलकर हँसा प्रहस्त—'कैकसी तथा सुवक्षा सहोदर जात हैं। एक कुलशील है उनका। इतने पर विभीषण का शील—वह सदा तुम्हारा समर्थक रहे तो यह हम सबका सौभाग्य ही होगा!' स्वयं प्रहस्त कम्पित हो उठा किसी अज्ञात आशंका से।

'आप क्या करने को कहते हैं?' अब दशग्रीव ने सीधे प्रश्न किया। यद्यपि प्रश्न करना अनावश्यक समझता था वह स्वयं भी।

'तुम्हारा मातृकुल सदा से सुरों से उत्पीड़ित रहा है।' प्रहस्त पर्याप्त गम्भीर हो गया। 'तुम अब समर्थ हो शत्रुओं को सन्तप्त करने तथा स्वजनों को आश्वासन देने में। पूरा मातृकुल तुम्हारे साथ है। मातामह तुम्हारे स्नेह के कारण तुम्हारे अनुगामोतक बनने को प्रस्तुत हो गये हैं; किन्तु उन्हें सम्मान्य सचिव का गौरव भी तुम नहीं दोगे, यह मैं नहीं सोच सकता।'

'मैं उनका आज्ञानुवर्ती हूँ।' दशग्रीव ने नम्रतापूर्वक कहा—'वे मेरे लिए सदा सम्मान्य हैं।

'तब तुम उनकी प्रथम सम्मति का सम्मान करो।' प्रहस्त ने प्रस्ताव किया—'लङ्का में रक्षोधिराज के सिंहासन पर तुम्हारा अभिषेक करके हम सब सन्तुष्ट होंगे।'

'प्रसन्न तो हो वत्स! कुशल तो है तुम्हारे संरक्षण में स्थित जनों की?' प्रणति के पश्चात् पुत्र को महामुनि विश्रवा ने आशीर्वाद दे दिया था और अब पूछ रहे थे—'लोक में मंगल है।?'

'पितृचरणों का प्रसाद पाकर धन्य है यह जन!' लोकपाल कुबेर पधारे

थे पिता के आश्रम में। उनका पुष्पक आश्रम-भूमि से बाहर ही स्थित था।

'तुम कुछ खिन्न दीखते हो वत्स!' मुनि ने पूछ लिया।

'स्वजनों का औद्धत्य किसे खिन्न नहीं करेगा तात!' लोकपाल कुबेर ने सनम्र वाणी में कहा—'दशग्रीव मेरा अनुज है। उसे यदि त्रिकूट के लङ्कादुर्ग की आवश्यकता थी— मुझसे माँग सकता था। मैं अपने छोटे भाई को एक नगर देना भी अस्वीकार कर देता—इतना क्षुद्र तो नहीं था।'

'उसने मुझसे पहिले प्रार्थना की थी। मैंने उसे झिड़क दिया।' मुनि विश्रवा भी खिन्न हो उठे थे—'मेरा शाप पाकर अधिक दारुण हो उठा है। अपने मातृ-पक्ष का अनुवर्तन प्रिय है उसे।'

'उसने लङ्का पर अकस्मात आक्रमण कर दिया राक्षस सैन्य के साथ। कुबेर ने बताया—'मुझे इतनी प्रसन्नता है कि मेरे अनुचर यक्ष जो दुर्ग-रक्षार्थ नियुक्त थे, उन्होंने युद्ध करना आवश्यक नहीं समझा। अत्यधिक बलवान प्रतिपक्ष के आक्रमण के कारण वे प्राण बचाकर भाग आये। इस प्रकार मैं स्वजनों से ही संग्राम करने तथा शत्रु बनने के प्रवाद से परित्राण पा गया।'

'वह यहाँ से गया—मुझे मुख दिखलाने का साहस उसमें नहीं था; किन्तु मुनि कह रहे थे—'उसकी माता भी अनुमति लेने नहीं आयी। प्रणाम करने आयी थी केवल सुवक्षा अपने पुत्र के साथ।

'सौम्य है भाई विभीषण!' लोकपाल कुबेर ने अपने इस अनुज के प्रति सदा स्नेह व्यक्त किया है।

'अद्भुत है सर्वेश की लीला!' मुनि बोले—'वह सत्पुरुष कुसंगाकुल रहने को विवश हो गया है। उस सहज सत्त्वशील को सञ्चालन एवं सुव्यवस्था करनी है राक्षसकुल की। जगदीश्वर की इच्छा!'

सर्वात्मा श्रीहरि का स्मरण करते ही मुनि के नेत्र अर्धोन्मीलित हो उठे। वैश्रवण ने देख लिया कि उनके पिता अब समाधि की स्थिति में पहुँच गये हैं। उनके पावन पदों में प्रणिपात करके अब प्रस्थान कर देना ही समुचित था।

'लङ्का! यह लङ्कापुरी!' दशग्रीव ने यक्षों के द्वारा रिक्त उस स्वर्णपुरी में प्रवेश किया। वह वहाँ के अकल्पित वैभव को देखकर चकित रह गया—'सर्वथा सुरक्षित दुर्ग है। किसी भी शत्रु के लिए नितान्त दुर्गम है यह पुरी।'

'वत्स! तुमने आज इस पुरी का उद्धार किया।' सुमाली प्रसन्न था—'राक्षसों की यह शाश्वत राजधानी तुम-से समर्थ राक्षसों को प्राप्त करके भूषित हुई। राजगृह को अब तुम भूषित करो और अपने सम्पूर्ण अनुचरों को आवास वितरित कर दो।

'भाई कुम्भकर्ण!' दशग्रीव कुछ सोचने लगा। लङ्का का कोई गृह ऐसा नहीं था जिसमें कुम्भकर्ण को शयन की सुविधा प्राप्त हो सके और वह महाकाय तो केवल आज दिन के लिए जागृत हुआ। सन्ध्या होते ही शयन करना ठहरा उसे।

'तुम चिन्ता मत करो!' सुमाली ने बताया 'मैंने अनुचरों को आज्ञा दे दी है। त्रिकूट के दक्षिण शिखर में विस्तीर्ण गुहा है। वह उसके शयनोपयुक्त सज्जित की जा रही है। वहाँ उसे सुविधा रहेगी।'

विभीषण!' दशग्रीव ने अपने अनुज की ओर देखा—'तुम मातामह एवं मातुल को स्वतः अपने आवास चुन लेने दो। अपना आवास तुम स्वयं निश्चित करोगे।'

'यदि श्रीमान् स्वीकार करें!' विभीषण ने प्रार्थना की—'राजसदन से कुछ दूर वह एकान्त सदन सुरुचिका कारण बनेगा।'

'जहाँ तुम्हें सुख हो—स्वच्छन्द हो तुम!' दशग्रीव ने हँसकर स्वीकृति दी—'साथ ही समस्त स्वजनों एवं सेवकों को उनके उपयुक्त भवन तुम्हें ही वितरित करने हैं।'

विभीषण अविलम्ब व्यवस्था में लग गये।

⌘⌘⌘

9. मन्दोदरी

'आप कौन हैं? इस दुर्गम अरण्य में, जो दारुण जन्तुओं से पूर्ण है, एकाकी क्यों घूम रहे हैं आप?' दशग्रीव दण्डकारण्य में एकाकी आखेट करता पहुँच गया था। उसने एक अद्‌भुत पुरुष को वन में देखा। कृष्ण वर्ण, अत्यन्त तेजस्वी, बज्रदेह वह पुरुष—पता नहीं क्यों उसे देखते ही उसके प्रति श्रद्धा हो उठती थी। 'यह पाटल मृदुल कुमारी—इसे आप क्यों इस कानन में ले आये?'

'आप सम्भवत: परिचित होंगे कि यह अरण्य मय-राष्ट्र का एक भाग है।' उस पुरुष ने कहा—'यद्यपि मैं यहाँ दीर्घकाल से नहीं रहता। अब तो मेरा निवास धरा के निम्नलोक में है। मेरा नाम है मय।'

'दानवेन्द्र मय!' आश्चर्यपूर्वक कहा गया—'विश्वकर्मा से भी जिनके करों की कला उत्कृष्ट है, उन दानवाधिराज, परमादरणीय को यह वैश्रवण दशग्रीव अभिवादन करता है।'

'तुम लोक विश्रुत महामुनि विश्रवा के पुत्र हो भद्र!' मय ने स्वस्थ स्वर में कहा—'मैं तुमसे ही साक्षात्कार करने चला था और जब तुम अरण्य में हो, मेरा यहाँ उपस्थित होना कोई अद्‌भुत तो है नहीं।

'श्रीमान् की सेवा करके यह जन अपने को सफल मानेगा।' दशग्रीव—दुर्दम दशग्रीव आज नम्रता की मूर्ति बन गया था।

'तुम पहिले मेरी बात सुन लो!' मय ने बताना प्रारम्भ किया—'देवलोक की अप्सराओं को अपनी शोभा से संकुचित करने वाली अप्सरा हेमा है स्रष्टा के ब्रह्मलोक में। उन समर्थ ने इस सेवक की स्तुति से सन्तुष्ट होकर उसे मुझे प्रदान कर दिया।'

'योग्य सत्कार करते हैं सृष्टिकर्त्ता!' दशग्रीव का श्रद्धा समन्वित स्वर था।

'उस अप्सरा से मुझे दो पुत्र प्राप्त हुए—मायावी और दुन्दुभी। उन दोनों की अनुजा है मन्दोदरी!' मय ने एक दीर्घ नि:श्वास लिया—'अप्सरा केवल सहस्त्र वर्ष के लिए मिली थी। अवधि पूर्ण होने पर वह चली गयी।'

दशग्रीव चुपचाप सुनता रहा। उसके नेत्र मध्य में उस मयतनया के अद्‌भुत लावण्य दर्शन के लिए लोलुप हो उठते थे और उसने देख लिया कि मन्दोदरी की दृष्टि भी उसकी ओर बार-बार उठती है।

'शिल्पियों का सौहार्द्र होता है परस्पर' मय ने कहा—'विश्वकर्मा ने समुद्र में स्थित त्रिकूट के शिखर पर मेरे लिए स्वर्णपुरी निर्मित कर दी। नहीं कह सकता कि यह उनकी स्वतः सहानुभूति थी या स्रष्टा का संकेत; मुझे उसको सज्जित करने में सुख मिला। मैंने उसे वज्र, विद्रुम, वैदूर्य, मरकत, पुष्पराग आदि रत्नमणियों से सजाया।

दशग्रीव शंकित हो उठा। आज जो लङ्का राजधानी है, दानवेन्द्र मय की पुरी है। उस पर उनका सहज स्वत्व है और ये कहीं उस स्वत्व को स्थापित करना चाहें—इन मायावियों के परमाचार्य से संग्राम की बात सोचना कैसे संगत हो सकता है।

'मैं चौदह वर्ष रहा उस पुरी में; किन्तु हेमा का वियोग मुझे व्याकुल किये था।' मय इस समय भी शोक सन्तप्त लग रहा था—'वह पुरी मैंने राक्षसराज सुकेश को सौंप दी और स्वयं अपनी सन्तानों के साथ धरा से निम्न लोक में चला गया।'

दशग्रीव ने सन्तोष की श्वास ली। वह समझ गया कि ये मनस्वी अपनी प्रदत्त पुरी पुनः माँगने की बात सोच नहीं सकते।

'मानी पुरुषों के लिए कन्या दुख का कारण होती है। वह तीन कुलों को सन्दिग्ध रखती है।[१] मय ने अब दशग्रीव की ओर दृष्टि उठायी—'यह विवाह योग्य हो गयी। अब मैं इसके लिए वर के अन्वेषण को विवश हुआ हूँ।' क्या कहे दशग्रीव कैसे कहे कि आप अपनी पुत्री मुझे दे दें? उसने संकोचपूर्वक मस्तक झुका लिया।

'भद्र! तुम सृष्टिकर्त्ता के प्रपौत्र, महर्षि पुलस्त्य के पौत्र तथा महामुनि विश्रवा के पुत्र हो!' मय ने विनीत स्वर में कहा—'तुम इस समय राक्षसाधिप हो और शीघ्र ही पूरे असुर कुल—दैत्य, दानव, राक्षसों के अधीश्वर होने वाले

---

१. नारी का सतीत्व मातृ-पितृ पतिकुल को उज्ज्वल करता है और उसका असदाचरण तीनों कुलों को कलङ्कित करता है।

हो। तुम इसके उपयुक्त पात्र हो। मेरी इस पुत्री का पाणिग्रहण करके मुझे भारमुक्त करो!'

'मैं आपके आदेश को स्वीकार करके अपने को कृतार्थ मानता हूँ तात!' दशग्रीव का स्वर उल्लासपूर्ण था।

'तुम वेदज्ञ ऋषिपुत्र हो।' मय ने प्रार्थना के स्वर में कहा—'मेरी इच्छा है कि यह विवाह ब्राह्म विधि स्वीकार करके सार्थक हो।'

'जो आज्ञा!' दशग्रीव को अरणि निर्मित करने में कितने क्षण लगने थे। अग्नि प्रकट किया उसने और दानवेन्द्र मय ने अग्नि की साक्षी में उसे कन्यादान किया।

'शची जैसे नित्य इन्द्राणी हैं!' मय ने पुत्री को आशीर्वाद दिया—'तुम नित्य लंकेश्वरी रहो।'

मय भी नहीं जानता था कि उसके आशीर्वाद के स्वर में नियति का कौन-सा अज्ञात विधान बोल रहा है।

'वत्स! लङ्का तो तुम्हारी है ही।' मय ने अब दशग्रीव को पुत्र की भाँति सम्बोधित किया—'मय-राष्ट्र का यह प्रदेश अब तुम्हारे द्वारा संरक्षित हो। तुम्हारा और क्या प्रिय कार्य करूँ?'

'आपकी कृपा से ही यह जन कृतार्थ है!' दशग्रीव ने दृष्टि उठायी—'मैंने मातामह से सुना है, मायायुद्ध की प्रणाली के जनक श्रीमान ही हैं।'

'वह तो तुम्हारा स्वत्व है वत्स!' मय हँसा—'मैं अपने जामाता एवं उसकी सन्तति को शिक्षित करके प्रसन्नता प्राप्त करूँगा।'

'आप पधारेंगे अपनी पुरी में!' प्रार्थना की दशग्रीव ने।

'अब मेरा वहाँ आना उपयुक्त नहीं होगा।' मय के द्वारा मर्यादा का उल्लंघन किसी ने कभी सुना नहीं। वह नित्य संयमशील—'दुहिता का नगर मेरे लिए कैसे आवास बन सकता है, किन्तु तुम्हारा शिक्षण तो मैं यहीं सम्पूर्ण कर सकता हूँ।'

'दशग्रीव ने केवल पत्नी ही नहीं प्राप्त की। वह जब दण्डकारण्य से लौटा—मायावियों के आचार्य ने उसे दक्ष कर दिया था राक्षसी-आसुरी मायाओं के भेदोपभेदों से।

'आर्यपुत्र!' स्वयं अपने सम्बोधन से ही संकुचित हुई मन्दोदरी। यह सम्बोधन उसकी परम्परा का तो नहीं है।

'आर्य और आर्यपुत्र' दशग्रीव ने गम्भीर भाव से कहा—'यह ठीक है कि मेरे पिता मुनि हैं, आर्य पूज्य हैं; किन्तु वह कोई पद मुझे नहीं चाहिये जो मेरे सहचरों को शोभित न कर सके। कोई गौरव नहीं इस सम्बोधन में। तुम राक्षसेश्वर कहो यदि दशग्रीव कहना तुम्हें प्रिय न लगे। लेकिन क्या कहना चाहती हो तुम?'

'मैं तुम्हारा नाम नहीं लूँगी।' मय-तनया के मुख पर लज्जा की लालिमा शोभित हुई—'मैं कह रही थी कि तुम्हारे जैसे समर्थ के अनुज अभी अविवाहित हैं।' 'अच्छा!' खुलकर हँसा वह दुर्धर; किन्तु तत्काल पुनः गम्भीर हो गया—'कुम्भकर्ण के उपयुक्त कोई कन्या दीखती नहीं। उस महाकाय के अनुरूप पत्नी कहाँ मिलेगी—समझ नहीं पाता हूँ। विभीषण को तुम जानती हो। वह अपने अग्रज से पहिले विवाह करके परिवेत्ता बनने को प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।'

'राक्षस और दानव कुल आपके स्वजन हो गये हैं। दैत्यकुल में सम्बन्ध करके उन्हें भी अपना सकते हैं आप।' मन्दोदरी ने बताया—'दैत्यराज बलि की दौहित्री वज्रज्वाला को मैंने देखा है। वह मेरे मध्यम देवर के उपयुक्त है।'

'तुम राक्षसेश्वर की योग्य सहधर्मिणी हो।' रावण ने मन्दोदरी को अङ्कमाल दी—'बलि का दुर्धर्ष पुत्र बाण मेरा मित्र हो जायगा यदि उसकी बहिन की पुत्री मेरे अनुज का वरण करती है।

'वरण तो करेगी मेरे देवर को वह आतुर होकर।' मन्दोदरी हँस उठी—'वह स्वयं इतनी विशाल है कि दूसरा कोई उसे अपनाने को प्रस्तुत नहीं हो सकता।'

'मैं आज ही प्रस्थान करूँगा!' दशग्रीव ने सोत्साह सूचित किया—'उसे यहाँ ले आऊँगा। कुम्भकर्ण के उठने में अब कुल एक सप्ताह के दिवस शेष हैं।'

'तुम्हें कष्ट क्यों करना पड़े।' मयकुमारी का कार्यक्रम सुनिश्चित था—'मैंने उसे सन्देश भेजकर सूचित कर दिया है। स्वतः आ जायगी वह यहाँ। इतनी सुकुमारी नहीं है कि बुभुक्षित होने पर भी देवर उसे सुविधा से

ग्रास बना जाँय।'

'तब उसको वह स्वीकार कर लेगा!' अट्टहास किया दशग्रीव ने—'जब मैंने कुम्भकर्ण से परिणय का प्रसंग चलाया, उसे यही आशंका बनी रही कि कोई नारी उसके समीप कब तक सुरक्षित रह सकती है। क्षुधातुर होने पर वह देख नहीं पाता कि किसे ग्रास बना रहा है।'

'विद्यु ज्वाला सम्हाल लेगी देवर को!' मन्द मुस्कान आयी मन्दोदरी के अरुणाधर पर—'और उसका स्वयंवर होना हमारे वंश के अनुरूप भी होगा।'

'मेरा नाम शैलूष है श्रीमान्!' एक तेजस्वी पुरुष रावण की राजसभा में उपस्थित हुआ था—मैं आपका आत्मीय बनने की अभिलाषा लेकर आया हूँ।'

'गन्धर्वराज शैलूष!' दशग्रीव ने उठकर अभ्यर्थना की—'आप जानते हैं कि राक्षस देव-बान्धव नहीं हैं; किन्तु आपकी क्या सेवा कर सकते हैं हम?'

'मैं अपनी पत्नी के साथ कैलाश के सुरम्भ्य पार्श्व में विचरण कर रहा था।' गन्धर्वराज ने अपनी आख्यायिका प्रारम्भ की—'मानसरोवर के समीप मेरी पत्नी ने एक पुत्री को जन्म दिया। आप जानते हैं कि सन्तान का स्नेह सबको होता है। वर्षा ऋतु थी, सरोवर में जल बढ़ता जा रहा था। समीप था कि सद्यः प्रसूत बालिका जल में जा पड़ती—उसकी आर्त जननी पुकार उठी—'सरोमा वर्धत।'

दशग्रीव शान्त सुनता रहा। अभी वह इस अतिथि का अभिप्राय अवगत नहीं कर सका था।

'भगवान शशाङ्क शेखर अपने गृह आये की आपत्ति दूर करते हैं। उनकी कृपा ने कन्या की रक्षा कर दी। हमारी वह पुत्री सरमा अब युवा हो गयी है।' गन्धर्वराज ने अब स्पष्ट किया अभिप्राय—'वह सुशीला है। धर्मपरायण है और जब आप अनुजों के साथ गोकर्ण क्षेत्र में तप कर रहे थे, उसने आपके अनुज के दर्शन किये।'

'आप मेरे छोटे भाई से उसका परिणय चाहते हैं?' दशग्रीव ने पार्श्व में स्थित विभीषण को देखा। मस्तक झुका लिया उन सहज सलज्ज ने। 'हम आपके द्वारा सम्मानित हुए हैं। इस सम्बन्ध का प्रस्ताव करके आपने हमें गौरव दिया है। मैं इसे सहर्ष स्वीकार करता हूँ।'

लङ्का में विभीषण के विवाह की साजसज्जा होने लगी। सत्य यह है कि जितने उल्लास एवं आयोजन से यह विवाह हुआ, कोई हुआ नहीं था अब तक राक्षस कुल में। अपने और कुम्भकर्ण के विवाह में दशग्रीव कोई आयोजन नहीं कर सका था। इस बार उनके अभाव को भी उसने पूर्ण कर लिया।

'राक्षसेश!' आज उद्विग्न दीख रही थी मयतनया। उसका स्वर कम्पित हो रहा था। उसके नेत्रों में अश्रु थे—'इस सेविका की सेवा क्या अपूर्ण रहती है श्रीचरणों में?'

'राक्षसेश्वरी!' रावण ने अङ्क में लिया उसे—'तुम्हें सपत्नियों से भीत होने का तो कोई कारण नहीं। तुम राक्षस-सम्राज्ञी हो और मेरी हृदय-सम्राज्ञी भी हो।'

'मुझे इस प्रकार का कोई भय नहीं स्वामी! मैं सेवा से सन्तुष्ट हूँ। जिन्होंने स्वतः श्रीचरणों का वरण स्वीकार किया है, उन पर मेरा स्नेह है। वे अनुजा हैं मेरी। उन्हें अपने सौभाग्य का भाग देकर मैं और भाग्यशालिनी होती हूँ। मन्दोदरी का मुख भाव दीप्त हुआ—'गन्धर्व, नाग, यक्ष, राक्षस सुन्दरियों से पूर्ण है आपका अन्तःपुर। लेकिन अनिच्छुक नारी का अभिशाप—आपके लिए मैं आर्त हूँ स्वामी! सती के शाप की शक्ति असीम है। आप अबलाओं पर अत्याचार करते हैं, क्या सत्य सुना है इन श्रवणों ने?'

'तुम भीरु हो प्रिये!' अट्टहास कर उठा राक्षसेश्वर। उसने उत्तर के स्थान पर अङ्क में दबा लिया उस भावमयी को।

⌘⌘⌘

10. पुष्पक-प्राप्ति—

'मातुल! मैं यहाँ की निष्क्रियता से ऊब रहा हूँ।' दशग्रीव ने प्रहस्त से मन्त्रणा करते कहा—'कुम्भकर्ण निद्रा ले रहा है। विभीषण बान्धवों के पालन के लिए पर्याप्त है। मुझे भी कुछ कर्म चाहिये। मैं कर्म-प्रिय हूँ। निष्क्रिय रहना मुझे विषम विपत्ति दीखती है।'

"महत्तम पुरुष कभी शान्त पौरुष नहीं रहते।' प्रहस्त ने प्रसन्नता प्रकट की—प्रजापति स्रष्टा ने जब सृष्टि को पीड़ित देखा, उन्होंने अपने सम्मुख उपस्थित सबल प्राण प्राणियों से कहा—'इनकी रक्षा करों!' हमारे कुलपुरुषों ने वह आज्ञा स्वीकार करके कहा—'हम रक्षा करेंगे। रक्षाम:' लेकिन उनके बान्धवों ने कहा—'यक्षाम:—हम इनका अभिवर्द्धन करेंगे।' सृष्टिकर्त्ता ने एक वर्ग का नाम राक्षस और दूसरे वर्ग का नाम यक्ष रख दिया।"

'इस प्रकरण का प्रस्तुत प्रसंग से कोई सम्बन्ध है?' दशग्रीव का प्रश्न स्वाभाविक था।

'है!' प्रहस्त ने स्पष्ट किया—'सृष्टिकर्त्ता ने हमें संसार के संरक्षण का दायित्व दिया है। आप त्रिभुवन के स्वत: सिद्ध सम्राट हैं। आपकी आज्ञाओं का पालन एवं आचार का अनुवर्तन जो न करे, उनका शमन करना चाहिये आपको।'

'कौन हैं वे?' दशग्रीव की मुट्ठियाँ बँध गयीं।

'देवता तथा उनके दयनीय अनुगत!' प्रहस्त ने अपनी प्राचीन शत्रुता साध ली—'ऋषि-मुनि तथा उनके सहायक!'

'सबको समझ लूँगा मैं!' निसर्ग क्रूर दशग्रीव को क्रूर कर्म प्रिय होने ही थे। तपोवनों तथा सुरपुर को संत्रस्त करने वह उसी दिन राक्षस सैनिकों के साथ प्रस्थित हो गया। 'अपने अग्रज लोकपाल कुबेर ने आपकी सेवा में दूत प्रेषित किया है।' सिंहासनासीन दशग्रीव से राजसभा में विभीषण ने निवेदन किया—'उसका यथोचित सत्कार सम्पन्न हो चुका। आज्ञा हो तो वह अब आपके दर्शन करे।'

'आने दो उसे!' दशग्रीव ने अनुमति दे दी।

'महाराज की जय हो।' दूत ने सम्मुख उपस्थित होकर राक्षसेश्वर को

अभिवादन किया। स्वर्णपुरी से वह पूर्ण परिचित था। यक्षराज ने उसे प्रथम विभीषण से साक्षात्मकार करने का आदेश दिया था। वहाँ उसका स्वागत हुआ था; किन्तु उसने इस राक्षसेश्वर की लोकोत्तर विभूति की कल्पना भी नहीं की थी। लेकिन वह लोकपाल का दूत था। उसने अपने को तत्काल स्थिर कर लिया—'आपके अग्रज कुशलपूर्वक हैं। उन्होंने आपकी सानुग कुशल कामना की है।'

'बहुत शीघ्र स्मरण हुआ उन्हें अपने अनुजों का।' दशग्रीव के स्वर में व्यंग था। इस समय सुमाली और उसके सहचर सावधान हो उठे थे। सुमाली ने कुछ संकेत भी किया राक्षसेश्वर को।

'वे अभी तप:पूत होकर लौटे हैं।' दूत ने नम्रतापूर्वक सूचित किया—'हिमालय पर वे पूरी आठ शताब्दियाँ तपोनिरत रहे हैं।'

'क्या प्रसाद पाया उन्होंने अपने तप का?' दशग्रीव के स्वर में ईर्ष्या के साथ उपेक्षा भी थी।

'वहाँ एक दिन सहसा भगवती पार्वती उपस्थित हुईं। दूत ने बताया—'ये कौन हैं, इस जिज्ञासा से लोकपाल ने उनकी ओर देखा। कोई अपराध नहीं था उनका; किन्तु देवी पार्वती पर दृष्टि पड़ते ही उनकी बाँयीं आँख जाती रही और दाहिनी पीतवर्ण हो गयी।'

'अच्छा प्रसाद है!' दशग्रीव के साथ राक्षस भी हँसे—'अब वे एकाक्ष हैं।'

'व्रत पूर्ण होने पर भगवान शंकर प्रत्यक्ष हुए।' दूत ने व्यंग एवं हास्य पर ध्यान नहीं दिया—'उन्होंने यक्षेश्वर का नाम एकाक्ष पिंगली रखा। उनके तप की प्रशंसा की। उन्हें अपना मित्र एवं लघु भ्राता स्वीकार किया।'

'हूँ! उन्मत्त महेश्वर से मैत्री हुई एक नेत्र देकर!' दशग्रीव के चित्त में अब ईर्ष्या स्पष्ट थी—'तुम्हें क्यों भेजा यहाँ उन्होंने?'

'तपस्या से लौटने पर उन्हें आपका समाचार मिला।' दूत का स्वर शान्त था—'बड़े खिन्न हुए वे। आज्ञा हो तो उनका सन्देश उन्हीं के शब्दों में सुना दूँ।'

'सुनाओ!' दशानन ने आज्ञा दी।

'यक्षेश्वर ने कहा हैं' दूत अब अपने स्वामी के शब्द बोलने लगा—'राक्षसाधिप! तुमने बार-बार मेरा अनादर किया है; किन्तु अविनयी बालक

की रक्षा करना ही उसके बन्धुओं का कर्त्तव्य होता है। अब तुम देवताओं तथा ऋषियों का उत्पीड़न करने लगे हो, यह समाचार मुझे आकुल कर रहा है। निश्चय यह कुबुद्धि तुममें कुसंग से आयी। दशग्रीव! अधर्मियों का साथ छोड़ दो, अन्यथा विनाश निश्चित है। ऋषि एवं देवता पीड़ित होते हैं तो सर्वेश रुष्ट हो जाते हैं। बन्धु! अपना दुराचार बन्द करो और पितृचरणों के पुनीत कुलको विपत्ति से बचाओ!'

'अच्छा! अब वह सुरों का सेवक, निधिपाल के कारण मुझे आदेश करने की धृष्टता करने लगा है! दशग्रीव के नेत्र अंगार उगलने लगे। उसके मुखों में अधर दब गये दन्त पंक्तियों के नीचे। मुट्ठियाँ बँध गयीं। उन्मत्त गर्जन से राजसभा गूँजने लगी—'वह शिव का मित्र है, यह दर्प वह यहाँ भी प्रदर्शित करना चाहता है। लोकपाल है वह! मैं देखूँगा उसे और उसके साथ अन्य लोकपालों को भी। उन्हें तो मैं पीछे मारूँगा; किन्तु तू अभी मर!'

'यह दूत है देव! इसे....' विभीषण आतुरतापूर्वक उठना चाहते थे। उनका प्रयत्न असफल रहा। दशग्रीव के कर में कराल करवाल चमकी और दूत द्विधा होकर गिरा। रक्ताक्त दूत का कलेवर तड़पकर शान्त हो गया।

'लोकपाल कुबेर! एकाक्षपिंगली!' अट्टहास करके हँसा दशग्रीव। उसके उग्र भाव ने राक्षस नायकों को भी स्तब्ध कर दिया। सहसा वह घूमा सेनाध्यक्षों की ओर—'मातामह! मातुल! सुरों का शौर्य देखना हैं मुझे और एकाक्ष लोकपाल के दर्प का सर्वप्रथम दमित कर देना है!'

'हम सब सदा प्रस्तुत हैं सम्राट!' सुमाली सन्तुष्ट हो गया इस शौर्य से। साथ ही उसने समझ लिया कि अब वह अपने सम्राट का सचिव मात्र है। उन्हें अब दौहित्र मानकर सम्बोधन करना सम्भव नहीं रह गया।

'मातुल! दशग्रीव ने युद्धसज्ज राक्षसी सेना का निरीक्षण करने के अनन्तर आदेश दिया प्रहस्त को—'मातामह राजधानी में रहकर सुरक्षा के लिए सावधान रहेंगे। आप, महोदर, मारीच, शुक, सारण और धूम्राक्ष—ये छः सेनानी मेरा साथ देंगे।'

स्वयं अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित दशानन ने समुचित आदेश दिये। उस राक्षसी सेना को न आवश्यक थे वाहन और न अपेक्षा थी पथ की। प्रशस्त गगन उनका पथ बना।

जैसे पर्वताकार गिद्ध गनन से एक साथ उतर पड़े हो, कैलास का पार्श्व प्रदेश दुर्दान्त राक्षसों से आच्छन्न हो उठा।

यक्षेश्वर के अनुचर प्रमत्त नहीं थे; किन्तु वे अपने अधीश्वर के अनुज से सहसा संग्राम कर भी कैसे सकते थे। वे सबके सब भागे वहाँ से।

'आपका दुर्मति अनुज दशग्रीव अपने क्रूर अनुचरों के साथ आया है।' यक्षों ने सूचना दी—'वह उद्धत आपसे युद्ध करना चाहता है। अलकापुरी को उसने अचानक आक्रान्त किया है।'

'उस पर दया करना अनावश्यक है।' यक्षराज ने आज्ञा दी—'वह दुष्ट दण्ड के बिना सत्पथ पर नहीं आवेगा। उसे संग्राम में बन्दी करना है तुम्हें।'

यक्ष-राक्षसों का अत्यन्त भयानक संग्राम प्रारम्भ हो गया। दोनों उपदेव जातियाँ जूझ रही थीं। दोनों दलों में पर्वताकार, कृष्णकाय, भयंकर शूर घोर गर्जन करते आघात कर रहे थे।

प्रतिद्वन्द्वी की पराजय—एक ही लक्ष्य था। अपने अङ्गों के ऊपर आघात हो रहा है, जैसे इसकी चिन्ता किसी को नहीं थी। हुंकार, अपशब्द और आघात। दिशाएँ धूम्राच्छन्न हो उठीं। कोलाहल ने व्यक्ति-विशेष के स्वर की स्पष्टता लुप्त कर दी। वह हिमालय की सुमन सुन्दर धरा रक्त-रञ्जित होने लगी। शृंगाल, गिद्ध तथा दूसरे मांसाशी प्राणियों का प्रलोभन बढ़ने लगा वहाँ।

'तू नगर द्वार में जाने का साहस मत कर!' घोर संग्राम में विजयश्री ने दशग्रीव के दल को वरण किया था। यक्षराज के अनुचर तथा उनका सेनानी संयोधकण्टक रणशय्या-शयन कर चुके थे। दशग्रीव बलपूर्वक अलका के द्वार में प्रविष्ट हो रहा था। उसे द्वारपाल शक्ति भर रोकना चाहता था।

'तू मानेगा नहीं।' क्रुद्ध द्वारपाल ने द्वार तोरण उखाड़ लिया और अन्धाधुन्ध आघात करने लगा दशग्रीव पर!

'हुँ' एक भयंकर हुंकार—तोरण दशग्रीव ने छीन लिया और धमक दिया द्वारपाल के ऊपर। धरा रक्त से लाल हो गयी। द्वारपाल अब सदा के लिए सुप्त हो चुका था।

'दशग्रीव नगरद्वार में आ गया! उसने द्वारपाल को मार डाला!' यक्षों में भगदड़ मची। वे प्राण लेकर भागे। गिरि-गह्वर, लतापादप—जिसे जहाँ सुविधा प्रतीत हुई—प्राण बचाने वह वहीं छिप गया।

'मणिभद्र!' यक्षराज ने अपने महासेनानी की ओर देखा—'चार सहस्त्र यक्ष तुम्हारें साथ जायँगे।'

दुर्जेय मणिभद्र भी संग्राम में कुछ अधिक सुयश नहीं पा सका। प्रहस्त एवं महोदर ने उसकी सेना के एक-एक सहस्त्र यक्षों को सुला दिया। मारीच से संग्राम में दो सहस्त्र मारे गये। मायावी राक्षसों से सीधा संग्राम करने वाले यक्ष कैसे पार पा सकते थे।

मणिभद्र ने धूम्राक्ष को यद्यपि आहत कर दिया; किन्तु दशग्रीव सम्मुख आ गया स्वयं। उस दुर्धर राक्षसराज की शक्ति के प्रहार ने मणिभद्र का मुकुट पार्श्व में गिरा दिया। पार्श्वमौलि नाम ही पड़ गया मणिभद्र का। उस प्रचण्ड यक्ष को भी पराजित होना पड़ा।

शुक्र तथा प्रौष्ठपद नामक पार्श्व-रक्षकों एवं पद्म तथा शंख जैसे अग्रचरों के साथ अपनी भयङ्कर गदा उठाये धनाधीश संग्राम-भूमि में आये।

'दुर्बुद्धि!' कुबेर ने अनुज को लताड़ा—'माता-पिता, ब्राह्मण-आचार्य का अपमान करने वाला अधोगति पाता है, इतना भी नहीं जानता तू?'

'मैं तुमसे उपदेश सुनने नहीं आया हूँ।' दशग्रीव ने देखा कि धनाधीश ने पहुँचते ही दारुण प्रहार कर दिया है और उनके आघातों से आकुल राक्षस ही नहीं,उसके सभी सेनानी भी पलायित हो गये हैं।'

'तो तू दो क्षण ठहर!' धनाधीश ने भयङ्कर गदाघात किया दशग्रीव के मस्तक पर—जैसे पर्वत पर लकुट पड़ा हो। वह व्याकुल भी नहीं हुआ।

दशग्रीव ने देख लिया अर्द्धदण्ड में कि उसके अग्रज दिव्यास्त्रों के प्रयोगों में पारंगत हैं। धर्म-युद्ध में कोई उनको पराजित नहीं कर सकता। लेकिन राक्षसराज को मय की माया प्राप्त थी और इसका कोई उपाय नहीं था कुबेर के पास।

'कुछ भी हो, ये मेरे अग्रज हैं।' दशग्रीव रणभूमि में मूर्छित कुबेर के पार्श्व में खड़ा था। उसके सेनानी इधर-उधर से आ गये थे उसके समीप—'इनका इतना अपमान ही बहुत हुआ।'

'आपने इन्हें पराजित किया। इनका पुष्पक यान अब आपको प्राप्य है।' प्रहस्त ने प्रस्ताव किया—'हमारा विजय प्रतीक रहेगा वह लङ्का में।'

दशग्रीव ने पुष्पक ले लिया और अलका से प्रस्थित हो गया।

11. रावण—

'यह क्या है मातुल?' दशग्रीव ने पुष्पक से नीचे देखा। जैसे दिशाएँ स्वर्णतृणों से आच्छादित हो रही हों। वायु के प्रवाह से उस पूरे वन में स्वर्णिम लहरियाँ उठ रही थीं। 'स्वर्णपीत यह तृणराशि इतनी विशाल?'

'मैंने सुना है सम्राट!' प्रहस्त का स्वर संयत था—'सुब्रह्मण्य स्वामि कार्तिक का जन्म इसी शरोवन में हुआ है। उनके स्पर्श ने इसे स्वर्ण सुषमा प्रदान कर दी!'

'हमारा यान आगे क्यों नहीं जाता?' राक्षसराज चकित हो गया। शरोवन से आगे जो उत्तुङ्ग पर्वत था उसे पार करना आवश्यक था आगे जाने के लिए; किन्तु पर्वत के पास पहुँच कर पुष्पक स्वयं नीचे उतर गया था। 'हम जानते हैं कि यह यान आरोही के संकल्प के अनुसार चलता है।'

'अकारण तो यान रुक नहीं सकता राक्षसेश्वर!' इस बार मारीच ने अपनी सूझ दी—'सम्भव है यह केवल अपने स्वामी कुबेर का ही वहन करता हो।'

'अभी तक यह मेरी इच्छानुसार चल रहा था। यह कामग यान है।' दशग्रीव सचिन्त बोला—'अवश्य इस पर्वत पर कोई है। यह उसी पर्वतीय का कार्य होगा।'

'दशानन! यहीं से लौट जाओ! भगवान शंकर इस समय जगन्माता पार्वती के साथ पर्वत पर एकान्त में आसीन हैं।' दशग्रीव ने देखा कि एक भयङ्कर वामन पुरुष कहीं से आ गया है। उसका वर्ण कहीं काला, कहीं पीला है। वानर मुख, मुण्डित मस्तक छोटी भुजाओं वाला वह पुरुष कह रहा है—'गरुड़, नाग, देवता, असुर कोई प्राणी इस समय गिरि पर न आरोहण कर सकते हैं और न इसका अतिक्रमण।'

'मैंने उसके मित्र का दर्प दलित कर दिया है और अब उसे भी देखता हूँ। कितनी शक्ति है इस शिव में—देख ही लेना है मुझे!' दशग्रीव रक्त नेत्रयान से उतरा और उस पुरुष की ओर व्यंग से हँसा—व्यर्थ है तुम्हारा यह त्रिशूल उठाना वानर मुख वामन!'

'तू जानता नहीं, मेरा नाम नन्दीश्वर है!' वे महत्तम संक्रुद्ध बोले—'दशग्रीव! मेरी मुखाकृति पर व्यंग किया है तूने—सुन! मेरे समान पराक्रमी वानर तेरे कुल का विनाश करने के लिए उत्पन्न होंगे। भगवान शशांकशेखर की अवज्ञा करने वाले अन्ध! मैं अभी मार देता तुझे; किन्तु पद्मयोनि के कृपा-प्रसाद को व्यर्थ नहीं करना चाहता और तू तो अधर्म का आश्रय करके स्वतः मृत है।'

'तू और तेरा वृषभारोही स्वामी दोनों अब नष्ट हों!' दशग्रीव ने दाँतो से दंशन किया अधर का। उसका शरीर क्रोध से काँप रहा था—'मेरे यान की गति अवरुद्ध करने वाला यह पर्वत अब अपने स्थान पर स्थित नहीं रह सकता।'

'भगवान शिव सुरासुर सेवित हैं!' मारीच ने प्रहस्त की ओर देखा—'उन प्रलयङ्कर की अवमानना नितान्त अनुचित हैं। उनके रुष्ट होने से पूर्व आप दशग्रीव को वारित करें।'

'शिव किस शक्ति पर इतना अशङ्क क्रीड़ा करता है?' दशग्रीव का दर्प गर्जन कर रहा था—'उसे समझना चाहिये कि अब उसके सम्मुख भी भय समुपस्थित है। मैं उसे समझा दूँगा कि संसार में अब केवल दशानन के शरणागत अशङ्क रह सकते हैं। यह शिवगण—शाप देता है यह मुझे!'

'राक्षसेश्वर!' प्रहस्त ने पुकारना चाहा; किन्तु व्यर्थ था उसका प्रयत्न। उसका भागिनेय अब पर्वत के पद-प्रदेश में पहुँच चुका था।

दशग्रीव ने अपने विंशति बाहु कैलाश के मूल में प्रबल पराक्रम से प्रविष्ट कर दिये। जैसे कोई मल्ल सामान्य भार उठा रहा हो—पूरा पर्वत उसने झुककर अपने कन्धों पर ले लेना चाहा।[१]

उस कर्पूर गौर शैल के हिमशृंग कम्पित हो उठे। शिलाएँ टूटने लगीं। वृक्षों की शाखाओं से पुष्प-फलों की वृष्टि हो गयी।

पक्षियों ने चीत्कार किया और ऊपर उड़ने लगे आकाश में। पशु आर्तक्रन्दन करके दिशा में दौड़ने लगे। प्रेत, पिशाच, कुष्माण्ड, योगिनी आदि के नेत्रों में भी भय का भाव आया। अकम्प स्थिर खड़े थे नन्दीश्वर। उनके नेत्रों में अग्नि साकार हो उठी थी; किन्तु अपने आराध्य की उपस्थिति में अनुमति के

१. '**कौतुकही कैलास पुनि लीन्हेसि जाइ उठाइ।**'

बिना वे कोई धृष्टता कैसे कर सकते थे।

'अरे!' भगवती पार्वती ने चौंककर सहसा अपनी मृणाल बाहु अपने आराध्य नीलकण्ठ में डाल दी और वेउनके शरीर से सिकुड़ कर एक हो रहीं।

'भीत हो गयी तुम!' तनिक स्मित आया उन सर्वेश्वर के अधरों पर—'तुम्हारा एक शिशु तनिक उच्छृंखल हो उठा है।'

प्रलयङ्कर के पाद-पल्लव का अंगुष्ठाग्र तनिक शिला पर दब गया। पर्वत पूर्ववत् स्थिर हो गया; किन्तु उसके पादमूल से त्रिभुवन को प्रकम्पित करने वाली दशग्रीव की दारुण चीत्कार क्षण-क्षण उठने लगी। उसके विंशति बाहु दब गये थे गिरि की गरिमा से। दर्प चूर्ण हो गया था उसका। पीड़ा से उसके प्राण आकुल हो रहे थे।

पर्वत पर पक्षी निःशंक अपने आवासों के समीप उतर आये। पशुओं का विचरण निर्विघ्न चलने लगा। रुद्र-पार्षद परस्पर एक दूसरे को ठेलते आनन्द मग्न हो रहे थे। उनकी हास्यध्वनि सुन सके, इतनी शक्ति इस समय दशग्रीव में शेष नहीं थी।

समस्त शरीर से स्वेद प्रवाह चल रहा था। मुख पीड़ा से पीताभ हो चुका था। बाहु पर्वत के नीचे पिसे पिचके पड़े थे। उन्हें हिलाना तक शक्य नहीं था। चीत्कार—वेदना से दारुण चीत्कार कर रहा था दशानन। वह छटपटा भी नहीं सकता था।

'दशग्रीव, इस दारुण स्थिति से उद्धार का एक ही उपाय है।' प्रहस्त ने पास जाकर सम्बोधित किया—'तुम उमाकान्त, गरलकण्ठ, शशाङ्कशेखर, शिव का स्तवन करके उन्हें सन्तुष्ट करो। उन प्रलयङ्कर प्रभु से अन्य कोई तुम्हारा परित्राण नहीं कर सकता।'

'मातुल! वे महामहिम रुद्र मुझ पर सन्तुष्ट होंगे?' किसी प्रकार स्थिर किया दशानन ने अपने को—'मैंने अकारण उनका अपराध किया है और सुना है, वे कपर्दी उग्र हैं।'

'वे भूति-भूषण कृत्तिवास आशुतोष हैं तात!' प्रहस्त ने आश्वासन दिया—'उस सर्वेश्वर के लिए कोई शत्रु नहीं। अपने समस्त शिशुओं पर उन गङ्गाधर का सदा समभाव रहता है। वे तुम पर सन्तुष्ट होंगे। तुम उनका

स्तवन करो।'

'अच्छा मातुल!' दु:खी दशग्रीव के कण्ठ से सस्वर सामवेद के मन्त्र उच्चरित होने लगा। वह अपने घनघोष उच्चस्वर से सर्वात्मा सादाशिव का स्तवन कर रहा था। गद्गद कण्ठ, आर्तवाणी-स्तवन चलता रहा—चलता रहा दशग्रीव का स्तवन।

'दयाधाम! दशग्रीव आपके पादांगुष्ठ की प्रेरणा से दबा है शैल के नीचे पूरे सहस्त्र वर्ष से।' जगजननी का वात्सल्य जागृत हो गया था। वे जानती हैं कि उनके स्वामी अपनी सहज समाधि में स्मरण नहीं कर पाते वाह्य विश्व को। वैसे स्वभाव से करुणा-वरुणालय हैं वे। 'वह सामकी सस्वर श्रुतियों से आपका स्तवन कर रहा है।' 'सानुकूल हैं उस पर शैल-सुता।' स्मित आया भगवान शङ्कर के श्रीमुख पर—तो वह वहाँ से उठे।' सिद्धासन से स्थित प्रभु के पादपद्म तनिक हिल गये। उठ गया पादांगुष्ठ अपने स्थान से। गिरि की गरिमा से दबे दशानन के बाहुओं को परित्राण प्राप्त हुआ।

अपने विंशति बाहु निकल जाने वे राक्षसराज उठ खड़ा हुआ। अब भी उसकी पीड़ा का पार नहीं था। अपनी पराजय का किञ्चित क्लेश नहीं माना उसने; किन्तु सहस्त्रवर्ष दबे उसके बाहु—मस्तक झुकाकर वह कुछ सोच रहा था।

'दशग्रीव!' भगवान शङ्कर ने सम्बोधित किया उसे—'पर्वत के नीचे भुजाओं के दबने से तुम दारुण स्वर में रोते रहे हो और तुम्हारे चीत्कार से त्रिभुवन के प्राणी भी चञ्चल होकर रो पड़े हैं। स्वयं रुदन करने तथा समस्त प्राणियों को रुलाने के कारण अब से तुम्हारा नाम रावण हुआ।'

'मैं आज समस्त लोकों के स्वामी का साक्षात्कार करके कृतार्थ हुआ।' दशानन ने अञ्जलियाँ बाँधलीं—'प्रभु का यह प्रसाद मुझे शिरोधार्य है।'

'जटाकटाह सम्भ्रमभ्रमन्निलिम्प निर्झरीं
विलोल वीचिवल्लरी विराजमान मूर्द्धनि।
धगद्धगद्धगज्जलल्ललाट पट्टपावके
किशोरचन्द्रशेखरे रतिः प्रतिक्षण मम॥

सचित स्तब्ध खड़े रहे अपने स्थान पर। प्रहस्तादि ने समझ लिया कि उनका स्वामी आशुतोष को पूर्ण सन्तुष्ट करके ही यहाँ से प्रस्थान करना चाहता है।

दशग्रीव—रावण अब कैलाश से कुछ दूर मानसरोवर के पार्श्व में पहुँच गया था। उसके चरण उद्दाम ताण्डव कर रहे थे और नृत्य के साथ उसके कण्ठ से श्रीशशाङ्कशेखर की स्तुति के अद्भुत छन्द तालबद्ध उच्चरित हो रहे थे।

राक्षसराज के पदाघात से पृथ्वी प्रकम्पित हो रही थी, शिलाएँ चूर्ण हो रही थीं। नेत्रों की भावदृष्टि से नृत्य द्वारा बनता अवनिका गह्वर गम्भीर सरोवर में परिवर्तित होता जा रहा था।

'वत्स! सन्तुष्ट हुआ मैं।' वृषभध्वज साम्ब शिव सुप्रसन्न हो उठे थे उस अद्भुत नृत्यमय स्तुति से—'वर माँगो! तुम्हारा यह स्तुति स्थल अब राक्षसताल रहेगा।'

'सृष्टि के समर्थ स्वामी! आपके पावन पदों में इस पौलस्त्य का प्रणिपात!' दण्ड के समान दशग्रीव पृथ्वी पर गिरा। दो क्षण में वह उठा और घुटनों के बल बैठकर समस्त अञ्जलि बाँधकर बोला—'अब से रावण के आराध्य आप हैं। यह आपका दास इतनी याचना करता है कि इसे सेवक स्वीकार करके सनाथ कर दें।' 'आश्वस्त हो वत्स!' आशुतोश प्रभु परम प्रसन्न पूछ रहे थे—'तुम्हारा ईप्सित क्या है?'

'प्रभु का प्रसाद एवं आशीर्वाद!' दशानन ने भावसबल स्वर में कहा—'अब मेरे किसी कार्य से मेरी शेष आयु क्षीण न हो और प्रभु मुझे कुछ प्रसाद दें।

'एवमस्तु!' औढरदानी ने अस्वीकार करना कहाँ सीखा है—'तुम यह चन्द्रहास स्वीकार करो। मेरे इस शस्त्र का सम्मान रखना। समुचित सम्मान न पाने पर यह कराल करवाल मेरे समीप आ जायगी।'

हाथों को आगे फैलाकर वह शस्त्र उसने लिया और सिर से लगाया। अब मस्तक उठाने पर दशानन ने देखा कि वे साम्बसर्वेश्वर अन्तर्हित हो चुके हैं। वहाँ अब वह एकाकी है।

'आप आज समर्थ हो गये राक्षसेश!' पुष्पक में विराजमान रावण से प्रहस्त ने कहा—'प्रलयङ्कर प्रभु को प्रसन्न किये बिना प्राणी न निर्भय होता है और न शक्ति सम्पन्न। उनके श्रीचरण ही शक्ति एवं ऐश्वर्य के उद्गम हैं।'

'सचमुच वे आशुतोष हैं मातुल!' रावण का हृदय अब भी श्रद्धा परिपूर्ण था—'कृपा की उन करुणामय ने इस कदर्य जन पर भी।

⌘⌘⌘

12. मेघनाद—

'राक्षसेश्वरी!' दशग्रीव ने बड़े स्नेह से अपने एकान्त कक्ष में मन्दोदरी को पाकर उसके मुख की ओर देखा—'तुम्हारा श्रीमुख पीताभ है। तुम्हारे मञ्जु दृगों में आज चिरपरिचित चाञ्चल्य नहीं है। क्या है, कुछ ठीक समझ नहीं पाता हूँ।'

'आप मुझे थोड़ी देर अपने अन्तःपुर के एकान्त कक्ष में जाने दें।' मन्दोदरी ने मुख नीचे कर लिया। उसके नेत्रों में लज्जा का स्पष्ट भाव था। 'समझने में कोई श्रम नहीं करना पड़ेगा।'

'इसका अर्थ यह कि मैं अभी यहाँ से जाऊँ!' हँसा दशानन—'मेरी उपस्थिति कोई बाधा दे रही है?'

'आपका अन्तःपुर के सान्निध्य में रहना भी आवश्य है।' मयतनया ने उसी प्रकार सलज्ज भाव से कहा—'आप यहीं विराजें! मेरा यह अनुरोध...'

'आज्ञा भी कह सकती हैं राक्षसेश्वरी।' रावण इस समय अत्यन्त प्रसन्न था—'किन्तु इतनी अस्पष्ट भाषिणी कभी रही नहीं हैं।'

'आप ज्योतिष के भी तो पारंगत पण्डित हैं।' सहसा मन्दोदरी को कुछ स्मरण आया—'मैं यदि कोई मुहूर्त पूछना चाहूँ?'

'प्रसङ्गान्तर में पण्डिता हैं आप।' खुलकर हँसा राक्षसराज 'अतुल पराक्रम, अमरप्राय, लोकजयी रावण की अर्द्धाङ्गिनी आकाश के नन्हें नक्षत्रों की क्यों चिन्ता करती हैं? ग्रह एवं योगों से उनके इस कृपापात्र की क्षमता अल्प नहीं है।'

'इधर कोई ऐसा मुहूर्त है जिसमें उत्पन्न सन्तान अजेय हो?' मयतनया ने अत्यधिक सलज्ज स्वर में किसी प्रकार कहा—'आप जानते हैं कि इस प्रकार की अनेक बातों में हमारे वंश की स्त्रियाँ को विशेष शक्ति प्राप्त हैं।'

'अच्छा! ऐसी बात है!' उल्लास से उद्दीप्त हो उठा मुख दशग्रीव का—'आप मुझे पिता का गौरव प्रदान करने जा रही हैं।'

सचमुच दो क्षण में वह गम्भीर हो गया। उसे भी आवश्यक जान पड़ी

ज्योतिष की गणना। यदि उसकी पत्नी इच्छानुसार पुत्र-प्रसव करने में समर्थ है तो वह सर्वश्रेष्ठ काल क्यों न साधित कर ले।

'सम्राट्! आपकी सम्राज्ञी ने सुपुत्र पाया!' सेविका शीघ्रतापूर्वक अन्तःपुर के कक्ष से दशग्रीव के समीप दौड़ी आयी—'सर्वथा आपके अनुरूप है आपका सद्योजात सुपुत्र!'

'मैं समझ गया था दो क्षण पूर्व ही।' कण्ठ की मणिमाला सेविका की ओर फेंकते रावण प्रसन्न पूछ रहा था—'दिशाओं को अपने घनगर्जन से उसी ने पृथ्वी स्पर्श के प्रथम क्षण में ही गुञ्जित किया है न?'

'उसी ने श्रीमान्!' सेविका ने सोत्साह कहा—'सम्राट् का शिशु रुदन क्यों करता! उसने गर्जना की और वह भी गगन घोषित करते।'

'मेघनाद अतुल पराक्रमी निकलेगा!' दशग्रीव उठ खड़ा हुआ अन्तःपुर में पहुँचने के लिए—'उसका जन्म ज्योतिष की गणना से शूरोचित सर्वश्रेष्ठ मुहूर्त में सम्पन्न हुआ।'

'पिता! मेरा प्रणिपात स्वीकार करें!' मेघनाद राक्षसकुल में उत्पन्न हुआ था। मानव शिशु के समान उसे बढ़ने में समय की अपेक्षा नहीं थी—'आपकी आज्ञा का अनुग्रह प्राप्त करना चाहता है यह जन।'

'प्रतापी भव!' दशग्रीव ने आशीर्वाद दिया—'संसार में शक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है और उसी का सम्मान होता है। तुम शक्तिशाली बनने के लिए साधन करो!'

'शक्तिभर प्रयत्न करूँगा।' मेघनाद का स्वर शील संयत था—'विधिका निर्देश करेंगे पितृ-चरण।'

'वत्स! तुम तप करो, यह आवश्यक है।' दशानन का वात्सल्य जागृत था—'भगवान शिव के श्रीचरण शक्ति के मूल स्रोत हैं। इस जन पर अनुग्रह है उन सर्वेश का। तुम उन आशुतोष को सहज सन्तुष्ट कर सकते हो।'

'जैसी आपकी आज्ञा!'रावणि ने मस्तक झुकाया पितृपदों में।

'मुझे कैलाश पर ही मातामह के दर्शन हुए!' मेघनाद जब अपनी साधना सफल करके लौटा, सुना रहा था वह अपना वर्णन—'वे अम्बा पार्वती के परम स्नेह भाजन हैं और भगवान विश्वनाथ का भी उन पर वात्सल्य है।'

'वे सदा से नैष्ठिक शैव हैं।' दशग्रीव दानवराज मय के सम्बन्ध में सच कह रहा था—'उनका साक्षात्कार वैसे भी तुम्हें करना ही था।'

'मातमह की स्तुति से त्रिनयन प्रभु शीघ्र सन्तुष्ट हो गये।' मेघनाद बतला रहा था—'मुझे श्रम नहीं करना पड़ा उनका स्नेह-भाजन होने में।'

'तुमने उन प्रभु का प्रसाद प्राप्त किया पुत्र?' अपने शूर सुत की सफलता से सन्तुष्ट था राक्षसेश्वर—'उनका अनुग्रह सदा सार्थक होता है।'

'उन्होंने मुझे अदृश्य होने की शक्ति प्रदान की।' मेघनाद ने बतलाया—'मैं जब अपने रथ एवं शस्त्रों के साथ अदृश्य होना चाहूँ, देव-दैत्य कोई मुझे देख नहीं सकेंगे।'

'अपूर्व शक्ति!' उल्लास से रावण ने पुत्र का आलिंगन किया—'अवश्य तुम अब अजेय हो गये।'

'मातामह मायावियों के आद्याचार्य हैं।' मेघनाद कह रहा था—'उन्होंने मुझे शिक्षित करने में कुछ उठा नहीं रखा।'

'सहज स्वाभाविक है यह।' कोई आश्चर्य नहीं हुआ दशग्रीव को—'उनकी शस्त्र-सम्पत्ति तथा माया-कौशल तो तुम्हारा स्वत्त्व होना ही था। अभी हो गया, अधिक अच्छा हुआ।'

मेघनाद के लौटने पर लङ्का में महोत्सव मनाया जा रहा था।

⌘⌘⌘

13. वेदवती—

'कौन वह यह सुन्दरी!' एकाकी रावण पुष्पकारूढ़ पर्यटन करने निकला था। उसका यान जब हिमालय पर से जा रहा था, अवनिकी ओर अचानक दृष्टि गयी और चौंक पड़ा वह—'शैल शिखर पर ऐणेयाजिन आवृता यह देवाङ्गना!'

'सुश्रोणी! कौन हो तुम?' पुष्पक नीचे उतर गया। दशग्रीव उस तपस्विनी के पास पहुँच कर पूछ रहा था—'दिशाओं को द्युतिमान करती इस अल्प वय में तुम यहाँ क्यों तपस्या कर रही हो? ऐसा क्या अभीष्ट है जो तुम्हारी जैसी सुषमा-मूर्ति के लिए भी अप्राप्य हो?'

'सुरगुरु बृहस्पति के पुत्र ब्रह्मर्षि कुशध्वज मेरे पिता हैं।' उस कन्या ने अपनी कोमल वाणी में कहा—'मेरा नाम वेदवती है। मेरे पिता चाहते थे कि जगदीश्वर श्रीहरि उनके जामाता हों।'

'उस सुराराध्य ने तुम्हें भी स्वीकार नहीं किया?' आश्चर्य था रावण की वाणी में।

'मेरे पिता से देवता, गन्धर्व, राक्षस, नाग यक्षादि अनेको ने मेरी याचना की थी; किन्तु उन्होंने किसी की प्रार्थना स्वीकार नहीं की।' वेदवती का स्वर सामान्य ही था—'उनकी इच्छा का अनुमान करके पापी दैत्य शुम्भ क्रुद्ध हो गया। रात्रि में आया वह निशाचर हमारे आश्रम में और उसने मेरे सुप्त पिता की हत्या कर दी। मेरी पतिव्रता जननी पिता के शव के साथ सती हो गयीं।'

'अब तुम्हारा अभिप्राय क्या है?' रावण सन्तुष्ट ही हुआ था यह सब सुनकर। इस कन्या ने उसके चित्त को आकृष्ट कर लिया था। यह अभी अविवाहिता है, यह जानकर उसे प्रसन्नता होनी ही थी।

'मैं अपने पूज्य पिता का अभिप्राय पूर्ण करना चाहती हूँ।' वेदवती ने मुख नीचे कर रखा था—'मुझे विश्वास है कि श्रीहरि अवश्य इस अनाश्रय को अपना लेंगे। वे करुणावरुणालय हैं। वे पुरुशोत्तम ही अब मेरे पति हैं। अन्य किसी की मैं कदापि आकांक्षा नहीं करती।'

'अज्ञ हो तुम!' रावण हँसा।

'लंकेश! आप यहाँ से पधारें।' वेदवती ने दशग्रीव की बात पर ध्यान नहीं दिया—'पौलस्त्य, अपनी तपः शक्ति से मैं आपसे परिचित हो गयी हूँ। त्रिलोकी में मेरे लिए कुछ अज्ञात नहीं है। एकाकिनी नारी के पास किसी पर पुरुष को नहीं रहना चाहिए।'

'रूपदर्पिते! अपने सौन्दर्य मद ने तुम्हें सत्य से दूर कर दिया है। तुम सोच नहीं पातीं कि तुम्हारा करणीय क्या है? तपस्यादि कार्य वार्धक्या के उपयुक्त हैं।' दशग्रीव उत्तेजित हो चुका था—'यह युवावस्था इस प्रकार नष्ट करना योग्य नहीं है।

'अच्छा हो कि आप अधिक कुछ न कहें।' वेदवती खिन्न हो उठी।

'विष्णु को मैं नहीं जानता। वह कोई हो, शक्ति में, सम्पत्ति में, शौर्य में मेरे समान नहीं हो सकता!' राक्षसराज अब औद्धत्यपर उतर आया था—'तुम मुझे स्वीकार करो। मैं सहर्ष तुम्हें भार्या बनाने को उद्यत हूँ।'

'त्रिलोकेश्वर; निखिल ब्रह्माण्ड-नायक श्रीनारायण के प्रति ऐसी बात कोई अज्ञ ही कह सकता है। वेदवती की वाणी में रोष आया—'कोई सुविचार सम्पन्न उनके अपमान की बात सोच नहीं सकता।'

'मैं जानता हूँ कि सौन्दर्य के मद से मत्त स्त्रियाँ कैसे मानती हैं।' आगे बढ़कर रावण ने तपस्विनी की जटा पकड़ ली।

'दुष्ट!' दशग्रीव भी हतप्रभ हो उठा तत्क्षण। वेदवती का वाम हस्त अचानक तलवार-सा तीक्ष्ण हो गया और उसने एक झटकेसे अपने केश काट दिये—'तूने मेरे केश पकड़ने का साहस किया! स्पर्श किया तूने—तुझ पापी ने मेरा!'

रावण हाथों में उस सुन्दरी की वह छिन्न जटा लिये सतब्ध सुनता रहा। इतना तेज—इतनी त्वरा और इतना तमकता मुख! अब वह वेदवती के मुख की ओर देखने में भी अपने को समर्थ नहीं पा रहा था।

मैं तुझे भस्म कर सकती हूँ शाप देकर। किसी का कोई वरदान तेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं।' वेदवती ने हाथों में कमण्डलु उठाया जल लेने के लिए और काँप गया लंकेश्वर। किन्तु स्वयं उसने कमण्डलु रख दिया— 'मुझे

सृष्टिकर्त्ता तथा भगवान् शङ्कर के वरदान का सम्मान करना चाहिए। तुच्छ कीट को शाप देकर मैं अपनी तपस्या क्यों नष्ट करूँ।'

दशानन का शरीर जैसे जड़ हो गया था। वह वहाँ से हट जाने में भी अपने को अभी असमर्थ पा रहा था।

'तेरी पाप दृष्टि पड़ी इस देह पर। तूने मेरे केश का स्पर्श कर लिया। अब यह देह आराध्य की अर्चना के उपयुक्त कहाँ रहा।' उस तेजस्विनी ने कहा—'तेरे सम्मुख ही मैं यह देह त्यागती हूँ। स्मरण रख! किसी सर्वेश्वरी अयोनिजा से एक होकर अवतरित होगी यह वेदवती-यह -वेदवती ही तेरे विनाश का निमित्त बनेगी।'

समिधाओं की राशि एकत्र करके अग्नि प्रज्वलित की उस पुण्यमयी ने और श्रीहरि के चरणों का स्मरण करती शान्त बैठ गयी लाल-लाल लपटों के मध्य। हव्यवाह आज एक ऐसी आहुति पा चुके थे, जिसे उन्हें सीधे सर्वेश्वर के समींप पहुँचाना था।

दशानन वहाँ से हतौजस लौटा। उसका उत्साह शिथिल हो चुका था। पुष्पक अब लङ्का की ओर जा रहा था।

हम-आप जानते हैं कि आदिशक्ति जब अयानिजा धराकुमारी के रूप में महाराज विदेह की यज्ञ भूमि में आविर्भूत हुईं—वेदवती उनसे अभिन्न थी।

वन में जब श्रीराघव ने वैदेही को अग्नि में निवास करने को कहा—वेदवती छाया सीता के रूप में साकार हो गयीं। रावण ने उनका हरण किया! अपना विनाश आमन्त्रित किया था उसने।

रावण के निर्वाण के पश्चात् अग्नि परीक्षा हुई। छाया सीता अर्थात् वेदवती ने सायुज्य प्राप्त कर लिया श्रीजानकी में। उनकी आराधना अब पूर्ण हो गयी थी।

⌘⌘⌘

14. राक्षस—

उस प्रदेश का नाम उशीरबीज बताया है महर्षि वाल्मीकि ने। मुझे ठीक पता नहीं, वर्तमान मानचित्र में उसका ठीक स्थल कहाँ होगा। वैसे महाराज मरुत की यज्ञ भूमि वर्तमान अफ्रीका की वनस्थली भी रह चुकी है।

मन्त्रियों के साथ रावण उस प्रदेश के समीप ऊपर गगन में पहुँचा। सुरभित धूम्र अम्बर को आच्छादित किये था। महाराज मरुत का युगान्तव्यापी यज्ञ चल रहा था उस स्थान पर।

'मातुल!' दशग्रीव ने प्रहस्त की ओर देखा—'यह अपनी स्वर्णपुरी की स्पर्धा करने वाली नगरी! यहाँ पूरी यज्ञशाला स्वर्ण निर्मित है।'

'मैंने सुना है, राजा मरुत कोई यज्ञ कर रहा है!' प्रहस्त ने क्षुब्ध कण्ठ से कहा—'हमारे शत्रु सुरों को सबसे अधिक सुपुष्ट करता है यह अपने यज्ञीय हविष्य से।'

'अच्छा!' दशानन का अट्टहास गूँजा—'मुझे भी क्षुधा पीड़ित कर रही है मातुल! मैं इस सुरों के सेवक को देखूँगा। आज इच्छा होती है कि अनुज कुम्भकर्ण के समान मैं भी यहाँ इन पशुओं को उदरस्थ कर लूँ।'

'अवश्य!' अनुचरों में उल्लास आया—'हम सब भी क्षुधातुर हैं श्रीमान्!'

नरभक्षी राक्षसों के मुख में पानी आ गया होगा अवश्य उस समय।

'दुर्दान्त दशग्रीव आ रहा है!' यज्ञशाला में अचानक आतंक फैला—'यह दारुण दुष्ट सृष्टिकर्त्ता के वरदान से अजेय है। सुरों का यह सहज शत्रु अवश्य हमें उत्पीड़ित करेगा।'

महाराज मरुत की श्रद्धा से आकृष्ट सुर साक्षात् साकार उपस्थित थे यज्ञशाला में। सुरगुरु बृहस्पति के सहोदर ब्रह्मर्षि संवर्त जहाँ आचार्य हों—देवता आह्वान की उपेक्षा कैसे कर सकते थे; किन्तु दशानन को आता देख देवताओं को अपने अपमान की आशंका हुई। उन्होंने अपने आकार आतुरता पूर्वक परिवर्तित कर लिये।

महेन्द्र मयूर के रूप में दृष्टि पड़े, यमने काक के रूप को कृतार्थ किया,

कुबेर कृकलास बन गये, वरुण ने हंस होना उत्तम माना—सभी देवता पक्षियों के रूप धारण कर चुके थे।

अनाधिकार अपवित्र श्वान के समान रावण सहचरों के साथ यज्ञशाला के सर्मीप आया और भयानक सवर में भूँकने लगा—'मरुत! मृगचर्म आच्छादित कर लेने से तुम्हें परित्राण नहीं प्राप्त होगा। पराजित करो समर में मुझे या स्वयं पराजय स्वीकार करो!'

'अकारण शत्रुता करने वाले शूर! आपकौन हैं?' महाराज मरुत ने उपेक्षापूर्वक देखा द्वार पर खड़े दशग्रीव को।

'सन्तुष्ट हुआ मैं तुम्हारी सरलता पर।' अट्टहास करता बोला राक्षसराज—'अपने अग्रज कुबेर को पराजित करके जिसने उनका यह पुष्पक प्राप्त कर लिया है, उस त्रिभुवन विख्यात पराक्रमी दशग्रीव को भी तुम नहीं जानते?'

'सचमुच आप श्लाघ्य शूर हैं। अपने श्रीमुख से आपने अपने सद्गुणों का समुचित परिचय दिया है।' विषम व्यंग था महाराज मरुत की वाणी में—'युगों से मेरा यज्ञ चल रहा है। सम्पूर्ण स्पर्धा एवं शत्रुता का संन्यास करके मैं कब से दीक्षित हूँ, यहाँ कौन क्या करता है, कुछ पता नहीं मुझे।'

दशग्रीव द्वार पर ही खड़ा रहा। महाराज मरुत ने पार्श्व से धनुष उठाया और ज्या चढ़ाते हुए बोले—'आप आ ही गये हैं अनाधिकृत श्वान के समान और युद्धोद्यत भी हैं तो मुझे आपका उचित आतिथ्य करना होगा। आशा है, अपने कुकर्मों का कदर्य परिणाम पाने को प्रस्तुत होकर आप यहाँ पधारे होंगे।'

वह रावण इन व्यंग वाणों से अवश्य क्रूद्ध हो उठता; किन्तु हतप्रभ हो गया। उसकी दृष्टि ने देखा महाराज मरुत के करों में प्रलयाग्नि के समान प्रज्ज्वलित महाशर। दिव्यास्त्रों का महान मर्मज्ञ दशग्रीव भी नहीं समझ सका उस शरका स्वरूप एवं शक्ति। प्रतिकार कैसे पावेगा वह—वाण के दर्शन ने ही उसे विमूढ़ कर दिया था।

'महाराज! यह माहेश्वर मख है।' सहसा आचार्य महर्षि संवर्त उठे और मरुत तथा दशानन के मध्य स्थित हो गये—'इस मख में दीक्षित यजमान इसे

अपूर्ण छोड़ दें तो उसके कुल का विनाश अवश्यम्भावी है। यज्ञ दीक्षित के लिए क्रोध या युद्ध वर्जित है। आप धनुष रख दें और यज्ञीय कार्य में मन स्थिर करें।'

'आपकी आज्ञा मेरे लिए अनुल्लंघनीय है।' महाराज मरुत ने तीक्ष्ण शर त्रोण में डाल दिया। धनुष की ज्या उतार करउसे पार्श्व में धर दिया। वे इस प्रकार यज्ञ में एकाग्र हो गये जैसे दशानन की उपस्थिति नितान्त उपेक्षणीय हो।

'मातुल?' दशग्रीव ने पुनः प्रहस्त की ओर देखा। वह अब अपने कर्त्तव्य की जिज्ञासा कर रहा था।

'उस दक्षिणाग्नि के कुण्ड पर बैठे कृष्णवर्ण ऋषि को देख रहे हैं न आप!' प्रहस्त पास आ गया और प्रायः कर्ण में फुसफुसाता बोला—'वह सुरासुर सबके लिए भयङ्कर है!'

दशग्रीव ने केवल मस्तक के संकेत से सूचित किया कि वह समझ रहा है। वह श्रुति का सम्मान्य ज्ञाता—उसे कहाँ अविदित है कि यज्ञ की रक्षा का दायित्व यजमान पर नहीं, अध्वर्युपर होता है। ये अमित पराक्रम अध्वर्यु—अमोघ हैं इनके मन्त्र। इनके करों से आहुति पड़ जाय—ये तो अपने सङ्कल्प से दशानन को भी यज्ञ कुण्ड में हवन करने में समर्थ हैं। इनके सावधान रहते यजमान क्यों चिन्ता करे कि कोई उत्पात शक्य है।?

'यह माहेश्वर मख है और वे आपके भी आराध्य हैं। यज्ञ में उत्पात उचित नहीं होगा।' प्रहस्त ने पुकारकर अब घोषणा प्रारम्भकी—'मरुत ने शस्त्र त्याग दिया है। उन्हें पराजित मानना चाहिये। हमारे सम्राट विजयी हुए।'

'इन ऋषियों से हम अपनी क्षुधा शान्त कर लें। यज्ञशाला से लौटते क्रूद्ध रावण की दृष्टि एकत्र कुछ ऋषि पर पड़ी। जो असावधान थे, अपवित्र थे, राक्षसों के वे आखेट हो गये। आज पौलस्त्य रावण अपने अनुचरों के संग से नरभक्षी राक्षस बन गया।

ꕥꕥꕥ

15. शत्रुता का सूत्रपात—

दशानन दिग्विजय करने निकला था महाराज मरुत की मखशाला से उसने विजय मुहूर्त किया था।

'हम राक्षस हैं! सृष्टिकर्त्ता ने हमें संसार का संरक्षक बनाया है!' दशग्रीव को दिशाओं में जय-घोषणा कराने का एक सूत्र सूझ गया था—'पृथ्वी के समस्त प्रजापाल हमारे प्रतिनिधि बनकर रह सकते हैं। एक ही मार्ग है नरेशों के लिए—युद्ध करें या पराजय स्वीकार करें।'

'भगवान ब्रह्मा ने वरदान दे दिया है इसे।' भारत के भूपतियों में मृत्यु का भय तो कभी नहीं आया। कम-से-कम त्रेता में वे भीत नहीं थे; किन्तु ऐसे युद्ध से क्या लाभ, जिसमें अकारण प्राण ही देना परिणाम हो। 'यह अजेय हो गया है।'

'आप विजयी हैं। हम आपके सम्मुख अबल हैं।' दुष्यन्त, सुरथ, गाधि, गय, पुरुरवा आदि अवनीशों ने पराजय स्वीकार कर ली। अहंकार ने अन्धा कर दिया है जिसे शक्ति के मद में उसका सुधार तो सम्भावना से परे है। सज्जन यदि अपनी शालीनता उसके सम्मुख सिर झुका देने में समझते हैं। तो यह उनकी सौम्यता ही समझनी होगी। नरेशों ने 'राक्षसराज' से कहा—'आप प्रतापी हैं। आशा है, हमारी पराजय की स्वीकृति आपको परितुष्ट कर देगी।'

स्पष्ट था कि प्रजा से जो करदान वे पाते थे, उसे प्रजा-पोषण में ही व्यय कर देते थे। किसी को अतिरिक्त कर देने के लिए उनके पास अर्थ नहीं था।

दशानन को अपेक्षा नहीं थी अर्थ-संग्रह की। स्वर्णपुरी का स्वामी कंगाल नहीं था कि अधीनस्थ हुए नरेशों से 'कर' माँगने की नीचता तक उतरे।

लेकिन सब समान नहीं हुआ करते। दशग्रीव का दर्प अयोध्या के अधीश्वर महाराज अनरण्य को स्वीकार नहीं हुआ। उन्होंने 'राक्षसराज' की रणपिपासा परितुष्ट करने का निश्चय किया। रघुवंशी किसी की संग्राम-घोषणा सन्तुष्ट न करके पराजय स्वीकार कर ले, यह अशक्य था।

सैन्य-सज्जा में समय नहीं लगा। क्षत्रिय शूर सदा संग्राम के लिए समुद्यत

रहते हैं। अफल था उन वीरों का उद्यम। वे शूर थे, साहसी थे, शस्त्रज्ञ थे; किन्तु छल-कपट नहीं था उनमें। सम्मुख संहार ही उन्होंने सीखा था। मायावी राक्षसों से कहाँ पार पाना था उन्हें; सबके सब सो गये संग्राम-शय्या पर। अवश्य शत्रु उनके पृष्ठ देश पर आघात करने में समर्थ नहीं हुआ।

अन्तत: स्वयं महाराज अनरण्य युद्ध में उतरे। अद्भुत था उनका अस्त्र-कौशल। उनके आघातों से आकुल रावण के अनुचर राक्षस भाग गये रणभूमि से। कुछ क्षणों में महाराज ने शत्रु सैन्य से रणभूमि रिक्त कर दी। दशानन भी एकाकी हो गया।

वार्धक्य ने जिसे पर्याप्त प्रथम वरण कर लिया था, उन अयोध्याधीश का विषम द्वन्द्व युद्ध चला दशग्रीव से। वरदान से अजेय था राक्षस। माया का उपयोग करने में इसे अपनी महत्ता जान पड़ती थी। अन्त में उसके आघात से आकुल अवध नरेश गिर पड़े अवनि पर। विजयी रावण अट्टहास कर उठा।

'मेरी पराजय में काल ही कारण है रावण!' अपने अन्तिम क्षण में महाराज अनरण्य ने शाप दिया—'अकारण तूने अयोध्या पर आक्रमण किया है, इसलिए मेरे वंशज के हाथ से तेरा वध होगा।'

उन पवित्र कीर्ति के प्राण प्रस्थान कर गये। उनके शाप का समर्थन सुनायी पड़ा गगन के मेघगर्जन स्वर में।

'आपके पावन पदों में यह पौलस्त्य प्रणिपात करता है!' पुष्पक से दशग्रीव चला जा रहा था। सहसा उसके कर्ण में वीणा के स्वर पड़े और दो ही क्षण में गगन पथ से पाश्र्व की ओर देवर्षि पर दृष्टि पड़े। अपने पितामह के भाई देवर्षि को दशानन ने अभिवादन किया—'आप कहाँ पधार रहे हैं पूज्य चरण?'

'मैं तो नित्य परिव्राजक हूँ। पर्यटन ही मेरा प्राण है। मैं तुम पर प्रसन्न हूँ पौलस्त्य! प्रशंसनीय है तुम्हारा पराक्रम!' नारदजी ने सरल शान्त स्वर में कहा—'कुछ क्षण पुष्पक को मेरा सहपथिक बनने दो और मेरे शब्द सावधानी से सुनो!'

'आप आज्ञा करें!' रावण ने अञ्जलि बाँध ली। अजात शत्रु हैं देवर्षि। उनका सुर एवं असुर सभी समादर करते हैं।

'तुम सुरों से भी अवध्य हो! अतः मनुष्यों को सताना तुम्हें शोभा नहीं देता!' देवर्षि ने उकसाया—'ये मानव तो स्वयं मर्त्य हैं—'मृत्यु के मुख में पड़े हैं। इन अल्पप्राण, अल्प पराक्रम अज्ञ जीवों से तुम–सा शक्तिशाली क्यों उलझे।'

'जो ज़रा–व्याधि से नित्य जर्जर हैं, अनेक अनिष्टों से आवृत हैं, दैव से ही निहत हैं, सामान्य पुरुषार्थ में ही संसक्त हैं, क्लेशाक्रांत हैं।' दो क्षण रुककर देवर्षि पुनः बोल रहे थे—'उन्हें पराजित करने, पीड़ित करने में क्या पराक्रम? दशग्रीव! प्रतापी तो तुम कहलाओगे जब सर्वनियन्ता यमराज को परास्त कर लो। संयमिनी के स्वामी से समर शोभा देगा तुम्हें। मृत्यु को जीत लेने में तुम्हारी वास्तविक विजय है।'

'आपके इस सुन्दर सुझाव के लिए आभार!' दशग्रीव सन्तुष्ट हुआ देवर्षि की बातों से।

'तब ठीक' देवर्षि ने बताया—'देखो, यह सीधा मार्ग प्रेतराज की भयंकर संयमिनी पुरी के सम्मुख ही पहुँचता है।'

अयोध्या से शत्रुता का सूत्रपात हुआ ही, इसी दिन सुरों से भी शत्रुता का सूत्रपात हो गया। दशानन उतावला हो उठा था दिक्पालों को पराजित करने के लिए।

⌘⌘⌘

16. प्रचण्ड पराक्रम—

जो स्वयं मृत्यु के अग्रदूत हैं, आज वे आक्रान्त हो गये थे। समस्त प्राणियों के लिए भयानक संयमिनी पुरी के लिए अकस्मात् भय उपस्थित हो गया।

आततायी रावण ने अकस्मात् आक्रमण किया। यमदूतों द्वारा पीड़ित बहुत-से पापियों को उसने बलात् उन्मुक्त कर दिया। उसकी यह धृष्टता असह्य थीं। क्रुद्ध यमदूतों के दल टूट पड़े उस पर, उसके अनुचरों पर और पुष्पक पर।

आहत हो गया उनके प्रबल आघात से रावण। उसके अनुचर चीत्कार करने लगे। पुष्पक के विनष्ट हो जाने की आशंका उपस्थित हो गयी। 'राक्षसराज' विमान से कूद पड़ा। उसने एक साथ दस धनुष चढ़ा लिये। दूसरे यमराज के समान उसकी शर वर्षा के सम्मुख यमदूत खड़े नहीं रह सके। वे आर्तनाद करते भागे। सत्य यह था कि यमदूतों के प्रहार से पीड़ित दशग्रीव ने पाशुपतास्त्र प्रयोग किया था। उस अमोघास्त्र का ही प्रभाव था कि यमदूत पराजित हुए। अधिकांश भस्म हो गये प्रचण्ड अस्त्र-ज्वाला में।

'मेरे योधा मारे गये!' दशग्रीव के गर्जन से यमराज ने अनुमान कर लिया। वे त्रिलोक भयंकर जब क्रुद्ध हुए—विश्व काँप उठा। साक्षात् मृत्युदेव पाश एवं मुद्गर लिये यमराज के रथ के आगे बैठे। प्रलयाग्नि के समान प्रज्ज्वलित कालदण्ड मूर्तिमान हो गया। सहस्र-सहस्र सर्प फूत्कार कर रहे थे उस रथ के अङ्गों में लिपटे हुए।

'इनसे युद्ध!' यमराज के रथ को देखते ही राक्षसों का साहस छूट गया—'यह हमारे बस की बात नहीं।' वे दिशाओं में भाग गये।

दशग्रीव एकाकी स्थिर रहा। उसने शर-वर्षा प्रारम्भ कर दी थी। भय काउसे कोई कारण नहीं जान पड़ता था।

अहर्निश सात दिन चलता रहा वह अद्भुत युद्ध। दिव्यास्त्रों का दोनों ओर से घात-प्रतिघात इस प्रकार कदाचित कभी देवताओं ने देखा हो।

राक्षसराज अत्यधिक आहत हो गया था, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। आश्चर्य यही था कि वह साक्षात् यमराज के सम्मुख समर में सात दिन से टिका ही

नहीं था, अपितु उसने यमराज को अपने आघातों से जर्जर कर दिया है।

'आप मुझे आज्ञा दें!' मृत्युदेव ने देखा कि उनके स्वामी अत्यन्त क्रुद्ध हो गये हैं। उनकी श्वास से सधूम्र पावक प्रगट हो रहा है। अब वे उद्यत हुए आगे बढ़ने को—'आपके आदेश की देर है। मेरी दृष्टि पड़ने पर कभी कोई जीवित नहीं बचा है।'

'तुम रुको!' यमराज ने मृत्यु को मध्य में डालना उचित नहीं माना। उनके कर अपने कालदण्ड की ओर बढ़े—'मैं इसे मारे देता हूँ।'

'वत्स! यमराज के हाथ का कालदण्ड उठा ही रह गया। उनकी दृष्टि ऊपर गयी। अपने उज्ज्वल हंस पर आसीन सृष्टिकर्त्ता आतुरतापूर्वक ब्रह्मलोक से उतर रहे थे—'मेरे वरदान ने इसे अवध्य बना दिया है। अमोघ कालदण्ड से तुम इस पर आघात मत करो।'

सृष्टि का सञ्चालन मार्यादा मानकर ही होता है। स्रस्टा सर्वज्ञ हैं और वे सचिन्त हो उठे थे कि उनका वरदान जैसे अव्यर्थ है वैसे ही कालदण्ड भी अमोघ है। यदि अभी सतयुग में ही मर्यादा न रहे, सृष्टि रह कैसे सकती है।

'आपकी आज्ञा मेरे लिए अनुल्लंघनीय हैं' यमराज ने कालदण्ड यथास्थान रख दिया—'अब इस संग्राम में मेरा कर्त्तव्य क्या है? आप कहते हैं कि यह आततायी अवध्य है।'

'अच्छा!' स्वयं सोचकर यमराज ने कहा—'मैं अदृश्य हुआ जाता हूँ इसके सम्मुख से।'

दशग्रीव ने आश्चर्य से देखा, उसके सम्मुख न यमराज हैं, न उनका रथ और न उनकी वह संयमिनी पुरी। सब कुछ अदृश्य हो गया है। वह अब शून्य में स्थित है।

पुष्पक पास आ गया। दिशाओं से दौड़े हुए अनुचर आ रहे थे। राक्षसराज अट्टहास कर उठा—'शत्रु सम्मुख से पराजित होकर भाग गया!' यमराज के अदृश्य होने का दूसरा कोई अर्थ कोई भी कैसे कर सकता है।

'एक लोकपाल तो हमारा अग्रज है!' रावण अभी युद्धोन्मुख था—'उसकी पराजय का प्रतीक पुष्पक हमारे पास है। यह दूसरा लोकपाल यमराज अदृश्य हो गया, मेरे आघातों के सहने में असमर्थ होकर। अब मुझे वरुण को

देखना है। सुना है, उसने दैत्यदानवों को जीतकर राजसूय किया है। सम्राट कहलाता है वह।'

रसातल जाने का मार्ग सहज नहीं; किन्तु पुष्पक को समुद्र के भीतर प्रवेश पाना सहज था। स्वाभाविक था कि वरुण की विभावरी पुरी में पहुँचने से पूर्व दशग्रीव को मार्ग के दुर्दम शत्रुओं से उलझना पड़ा।

नागराज वासुकि की भोगवती पुरी प्रथम पड़ी। अधिक श्रम नहीं पड़ा राक्षसराज को उन नागों को पराजित करने में। प्रारब्ध उसका साथ दे रहा था। वासुकि और तक्षक दोनों भगवान शेष की वन्दना करने पाताल चले गये थे प्रधान नागों के साथ। पुरी में रक्षक प्राप्त हुए और शीघ्र वे पराजित हो गये।

भोगवती पुरी से आगे पहुँचते ही पुष्पक पहुँचा निवातकवच नामक दैत्यों की मणिमयी पुरी में। वे दुर्जेय दैत्य टूट पड़े रावण पर और उनसे पूरे वर्षभर घोर संग्राम करके भी दशानन पार नहीं पा सका।

'आप सब भी अजेय हैं और रावण भी अवध्य है।' अपने पौत्र की सहायता करने तो नहीं किन्तु भगवान शेष का साक्षात्कार करके महर्षि पुलस्त्य लौटते समय वहाँ आ गये थे। इस अकारण युद्ध को बन्द देना उन्होंने उचित माना—'दोनों पक्ष एक शील-स्वभाव के हैं। अच्छा होगा कि आप आपस में मैत्री कर लें।'

'आप ठीक कहते हैं।' निवातकवचों ने एक साथ कहा—'शत्रु का शत्रु मित्र होता है। हमारे समान दशग्रीव भी सुरों का शत्रु है।'

'पितामह की पुनीत आज्ञा मुझे अस्वीकृत नहीं हो सकती।' राक्षसराज ने भी स्वीकृति दी।

निवात कवचों ने मैत्री कर ली रावण से। दशानन उनके यहाँ कुछ काल सत्कारपूर्वक श्रम शान्त करता रहा।

'आप रसातल में आगे न जाते तो अच्छा होता।' निवात कवचों ने सम्मति दी थी—'धरा के निम्न लोकों में अधिकांश असुर निवास करते हैं। इस ओर जाने पर अपने शुभैषियों से आपका संग्राम हो जायगा। वरुण को असुरों ने एकबार सम्राट स्वीकार कर लिया है।'

दिग्विजय का भूत दशानन के सिर पर था। वह कोई शुभ सम्मति

स्वीकार करने की स्थिति में नहीं था। रसातल में आगे बढ़ने पर वह पहुँच गया कालकेय दैत्यों के अश्मपुर में और वे अभिमानी दैत्य अपने नगर का अविभव सहन नहीं कर सकते थे।

युद्ध अनिवार्य हो गया। यह युद्ध अप्रिय ही हुआ राक्षसराज के लिए। यद्यपि वह विजयी हुआ; किन्तु कितनी विषाद भरी थी यह विजय। उसकी अपनी सगी अनुजा शूर्पणखा विधवा हो गयी और वह भी उसी के हाथों। अपने शूरों का क्रूरतापूर्वक संहार करते विद्यु जिव्ह का वध करने को वह विवश हो गया—अपने बहनोई का इस प्रकार वध करना पड़ा उसे इस विजय के लिए।

अवश्य इस अप्रिय विजय के पश्चात् वह अपने अभीष्ट तक पहुँच गया। कैलाश के समान अत्युच्च्य श्वेत प्रचेता की विभावरी पुरी उसके सम्मुख थी।

'तात! भगवान विश्वनाथ के वाहन वृषभ की माता ये सर्वपूज्या सुरभि हैं' प्रहस्त ने दशग्रीव को समझाया—'इनके स्तनों से अजस्त्र झरती दुग्ध की धारा ने ही क्षीराब्धि का सृजन किया है। स्वधा तथा अमृत इनके पयसे ही समुत्पन्न हैं। इनका अतिक्रमण अब तक सुना नहीं गया।'

'हम भी इनका आदर ही करेंगे!' दशानन अपने में सुरभि के प्रति श्रद्धा अनुभव कर रहा था। इन सौम्या के सम्मुख स्वतः सिर झुक जाता था। उसने प्रदक्षिणा की उन पूज्या की और प्रणाम किया।

'युद्ध करो या पराजय स्वीकार करो!' अपनी वही घोषणा विभावरी के द्वार पर भी दशानन ने दुहरायी। वह वरुण से इसका उत्तर चाहता था; किन्तु वे प्रचेता तो इस समय पुरी में थे नहीं। वे भगवान ब्रह्मा की वन्दना करने ब्रह्मलोक गये थे। दशग्रीव को वरुण के पुत्रों एवं पौत्रों से युद्ध करना पड़ा।

भयावह संग्राम प्रारम्भ हो गया। युद्ध का विस्तृत वर्णन अनावश्यक है। इतना समझ लेना पर्याप्त है कि वरुण की सन्तान एवं शूरों ने पीठ नहीं दिखायी; किन्तु वे हत होकर सो गये समर में सदा के लिए।

'जो यहाँ थे वे तुम्हारे द्वारा मारे गये।' प्रचेता के मन्त्री प्रहास ने कहा—'वारिपति वरुणदेव ब्रह्मलोक में है। अब व्यर्थ श्रम एवं संहार से कोई लाभ नहीं। विजय तो तुम्हारी हो ही गयी और विभावरी में बसना तुम चाहते नहीं।

दशग्रीव ने मन्त्री की बात स्वीकार कर ली। वह जिस मार्ग से आया था,

उसी से रसातल से बाहर हो गया। लोकपाल वरुण की पुरीपर विजय के पश्चात् रसातल में और घूमकर असुरों से युद्ध करते रहना उसे अभीष्ट नहीं था।

'हम भटक गये तात!' प्रहस्त ने प्रेरित किया—'रसातल हमारा लक्ष्य नहीं। सुरों के शत्रुओं का लक्ष्य तो सुमेरु है।'

'सूर्य को पराजित कर लूँगा मैं।' दर्प-दीप्त हो गया था दशग्रीव। किन्तु सूर्यलोक के समीप पहुँचते-पहुँचते उसके सभी सहचर जलने लगे थे प्रचण्ड ज्वाला से।

सूर्यलोक के द्वारपाल दण्डी ने दशानन का सन्देश अपने स्वामी तक पहुँचा दिया। लौटकर उसी ने सुनाया—'समस्त लोकों के आराध्य भगवान भास्कर का सबमें समभाव है। वे किसी से शत्रुता करने को समुद्यत नहीं और न उनके पास संग्राम करने को समय हैं तुम चाहो तो इसे पराजय की स्वीकृति मान लो; क्योंकि लोकपिता को अपने पुत्रों से पराजय मानने में भी कोई लज्जा नहीं।'

'अच्छी बात!' दशग्रीव ने भी लौटना उत्तम माना। वह देख रहा था कि दो दण्ड यहाँ और रुकना पड़ा तो यह उसका दिव्ययान पुष्पक पिघल जायगा और उसके अनुचर तो अभी से मृयमाण हो उठे हैं।

'सूर्यलोक की विजय तो मानस सन्तुष्टि मात्र है!' स्वयं राक्षसराज भली-भाँति समझ रहा था। इतना होने पर भी उसका उत्साह शिथिल नहीं पड़ा था। यह स्वाभाविक था कि सूर्य के साथ उसका ध्यान चन्द्र पर जाता और पुष्पक चन्द्रलोक की ओर ही चल रहा था।

चन्द्रलोक—सुकृतिजनों का स्वधाम, स्वर्ग का सुषमामय द्वार—उसकी ओर जाते रावण को संसार के पुण्य प्राण प्राणी मिले जो मानव देह त्यागकर विमानों में बैठे अप्सराओं से आवृत अपने-अपने पुण्यलोकों को जा रहे थे।

'महर्षि! इनमें-से कोई मुझसे युद्ध कर सकता है?' महर्षि पर्वत उसी ओर से जा रहे थे। उन्हें पहिचानकर दशग्रीव ने प्रणाम किया था। पूछने पर वे स्वर्ग जाते सत्पुरुषों के पुण्य कर्मों का परिचय दे रहे थे। अन्त में रावण ने कहा—'आप मेरे पितृव्य हैं पूज्य पिता के मित्र होने के कारण। मुझसे युद्ध कर सके, ऐसे किसी नरेश का परिचय कृपा करके दें।'

'इनमें कोई युद्धेच्छुक नहीं, ये तो अपने सत्कर्मों का सुफल भोगने स्वर्ग जा रहे हैं।' महर्षि पर्वत ने बताया—'तुमसे युद्ध तो महाराज मान्धाता कर सकते हैं। उन सप्तद्वीपवती पृथ्वी के अधीश्वर अयोध्याधीश से तुम संग्राम करो।'

'उधर देखो!' दो क्षण रुककर महर्षि ने एक ओर इंगित किया—'वह ज्योतिर्मय रथ मान्धाता का ही आ रहा है।'

'अब आप मुझे आज्ञा दें।' राक्षसराज ने महर्षि को प्रणाम किया और पुष्पक पहुँचा महाराज के रथ के पास। रावण का स्वर स्पष्ट सुन पड़ा—'मुझसे युद्ध करके तब आगे जाइये।'

'तुझे अपना जीवन भार प्रतीत होने लगा है राक्षस!' हँस पड़े महाराज—'मरना ही चाहता है तो आ युद्ध कर!'

'वरुण, कुबेर और यम तक को विजित करने वाले रावण को एक मानव भीत करना चाहता है!' राक्षसराज अट्टहास कर उठा। उसके अनुचरों ने आक्रमण कर दिया।

शीघ्र राक्षसों को अपनी रक्षा आवश्यक जान पड़ी। मान्धाता उनके लिए मृत्युभयङ्कर सिद्ध हो रहे थे। उनके अस्त्रों ने राक्षसों को इतना आहत किया कि प्राण बचाने का एक ही पथ रह गया—भाग जायँ वे और सचमुच वे भाग खड़े हुए।

रावण कम आहत नहीं हुआ था। वह मूर्च्छित हो चुका था मान्धाता के अमोघ आघात से। चेतना पाकर उसने भी प्राणप्रण से प्रत्याघात किया और महाराज मान्धाता मूर्च्छित हो गये। व्यर्थ था रावण का मद ओर उसकी प्रसन्नता—मुहूर्त भी नहीं बीता कि मान्धाता उठे और उनका धनुष मृत्यु-वर्षा करने लगा।

दशग्रीव एवं मान्धाता का दारुण युद्ध चलने लगा। दोनों ओर से दिव्यास्त्र प्रयुक्त होने लगे। महाराज ने देखा कि राक्षस रण में पीठ नहीं देता, तो उन्होंने पाशुपतास्त्र उठाया। काँप उठीं दिशाएँ, पीत पड़ गया मुख राक्षसेश्वर का। उसे कहाँ पता था कि भगवान शंकर ने मान्धाता को भी अपना महास्त्र दे रखा है। पता होता तो वह स्वयं पहिले इसका प्रयोग कर लेता। अस्त्र का कोई उत्तर नहीं जो प्रथम इसे उठा ले—उसका प्रारब्ध जागा। अब क्या हो सकता था।

'महाराज!' अचानक एक ओर से पुकार आयी। महर्षि पुलस्त्य अपने

दिव्य ज्ञान से इस अनर्थ को जान चुके थे। अपने पौत्र की रक्षा के लिए महर्षि गालव के साथ वे आतुरतापूर्वक निकट आये—'आप अपने इस महास्त्र का उपयोग न करें। हमारा अनुरोध—इस अधम को क्षमा करें आप!'

'आपकी आज्ञा मेरे लिए अनुल्लंघनीय है!' महाराज मान्धाता ने शीघ्रतापूर्वक अस्त्र का उप-संहार किया और महर्षि के पावन पदों में प्रणत हो गये।

'मूर्ख! महापुरुषों से मैत्री के स्थान पर अकारण युद्ध करता घूमता है।' महर्षि पुलस्त्य ने पौत्र को धिक्कारा—'महाराज की मैत्री पर महेन्द्र भी गर्व कर सकते हैं। क्षमा माँग!'

'महाराज!' पितामह की आज्ञा का अपमान नहीं कर सका रावण। वह महाराज के सम्मुख मस्तक झुकाकर बद्धाञ्जलि उपस्थित हुआ।

'यह अनावश्यक है मित्र!' महाराज मान्धाता ने भी आगे बढ़कर अङ्कमाल दी। 'सज्जन सात पद साथ चलकर मैत्री मान लेते हैं; किन्तु अब अयोध्या तुम्हारे द्वारा आक्रान्त नहीं होनी चाहिये।'

महाराज मान्धाता से मित्रता करके रावण अपने लक्ष्य की ओर बढ़ा। उसे चन्द्र को विजित करना था और अपना सङ्कल्प विस्मृत करना उसने सीखा नहीं था।

पुष्पक चन्द्रलोक के पास पहुँचा। अद्‌भुत अनुभव था प्रतिक्षण उस पर उल्काओं का आघात हो रहा था। शीतांशु की किरणों से मानों शरवृष्टि हो रही हो। राक्षसों का रक्त शीत के आधिक्य के कारण स्नायुओं में जमा जा रहा था। स्वयं दशग्रीव के दन्त बजने लगे थे।

'हमारे अङ्ग अकड़े जाते हैं!' प्रहस्त काँपता कह रहा था—'हम आगे जाने या यहाँ अवस्थित होने में असमर्थ हैं।'

'रुको!' अपने अनुचरों को लौटने को उद्यत देख रावण ने हुंकार की। इतने में उसके विंशति बाहु दस धनुष चढ़ा चुके थे।

'दशग्रीव! दुष्टता मत करो!' भगवान हंसवाहन उसे आकाश में दीखे—'अब लङ्का लौट जाओ! ये अत्रिकुमार निशानाथ सर्वदा सबका सम्वर्द्धन करते हैं। इनको उत्पीड़ित करना सर्वथा अनुचित है।'

सृष्टिकर्त्ता का आदेश स्वीकार करना पड़ा। रावण लङ्का लौटा।

17. शाप—

दिग्विजय करके अपने पितामह महर्षि पुलस्त्य की आज्ञा मानकर दशग्रीव लङ्का लौटा। मार्ग में उस उद्धत ने गन्धर्व, नाग, किन्नर, असुर आदि की बहुत-सी स्त्रियाँ बलपूर्वक विमान में बैठा लीं। कोई कुमारी है या परिणीता, इसका विचार उसे व्यर्थ जान पड़ा। कहीं कोई सुन्दरी दृष्टि पड़ी और दशानन ने उसे जा पकड़ा, पुष्पक में पटक दी गई वह। यान जब लङ्का पहुँचा—सहस्त्रशः सुकुमारियाँ उसमें सिसकती सिकुड़ी बन्दिनी बनी थीं।

शक्तिशाली राक्षस-सम्राट् जिन्हें बलपूर्वक उठा लाया था, उनमें सब ऐसी नहीं थीं कि उनका अपहरण अनुचित कहा जाय। बहुत-सी कुमारियों ने इसमें अपना अहोभाग्य भी माना। वे स्वयं समुत्सुक थीं रावण का वरण करने के लिए।

सतियों की दशा शोचनीय थी। उनका आर्तक्रन्दन अफल गया। माँगने पर मृत्यु भी नहीं मिलती अपमान से पीड़ित प्राणी को, यही विधाता का विषम परिहास है।

'पर-स्त्रियों में प्रीति रखने वाले पापी!' अन्त में सतियों ने सम्मिलित रूप से राक्षसराज को शाप दिया—'तूने अकारण हम पतिप्राणा अबलाओं का अपहरण किया है, अतः किसी पर—स्त्री का अपहरण ही तेरे विनाश का हेतु बनेगा।'

हतप्रभ हो उठा दशग्रीव सतियों का शाप सुनकर। अपनी स्वर्णपुरी पहुँचकर भी उसे शान्ति नहीं मिली; क्योंकि वहाँ उसे न अपने अनुज विभीषण पर दृष्टि पड़ी और न प्रिय पुत्र मेघनाद ही मिला। फलतः उन दोनों के पास पहुँचने के लिए पुष्पक को रावण ने निकुम्भिला की ओर प्रेरित किया।

अनिष्ट भी एक साथ आते हैं। पुष्पक से रावण पृथ्वी पर पद रखें, इसके पूर्व ही चीत्कार करती उसकी अनुजा सम्मुख पछाड़ खाकर गिरी।

'शूर्पणखे, उठ!' दशग्रीव दुःख एवं छोभ से क्षुब्ध हो उठा—'किसने तेरा अनिष्ट किया है?'

'तुमने' तिरस्कार से शूर्पणखा ने झटक दिया अग्रज का हाथ—'तुमने कालिकेय दैत्यों से युद्ध के समय मेरे पति का वध कर दिया! अग्रज होकर अपनी अनुजा को तुमने विधवा-अनाथिनी बना दिया। क्रूर पशु भी ऐसी नृशंसता नहीं करता। अब तुम मेरा भी वध करो! करो मेरा वध!' उन्मादिनी हो उठी थी वह।

'बहिन, तू मुझे क्षमा कर!' दशग्रीव ने अनुजा को उठाने का प्रयत्न किया—'युद्ध में अपना-पराया सूझता नहीं। अनजाने यह अनर्थ मुझसे हो गया।'

'मैं हतभागिनी अब कहाँ जाऊँ? तू मार ही डाल मुझे।' शूर्पणखा का क्रन्दन चिग्घाड़ बन चुका था।

'मैं तुझे दण्डकारण्य की अधीश्वरी बनाये देता हूँ।' दशानन ने आश्वासन दिया—'हम राक्षस हैं। इस प्रकार आर्त होना मेरी अनुजा को शोभा नहीं देता। तू सदा स्वतन्त्र है अपने योग्य पुरुष पाने में। अपनी मातृस्वसा (मौसी) का पुत्र यह खर अपने दोनों अनुज दूषण तथा त्रिशिरा के साथ तेरे अधीनस्थ रहकर उस प्रान्त का शासन करेगा। चौदह सहस्त्र राक्षस सैनिक तेरी सेवा में सदा समुद्यत रहेंगे।'

'अच्छा भाई!' शूर्पणखा ने अब अपने अश्रु पोंछे। उस राक्षसी का शोक इस अपार वैभव की प्राप्ति से पराजित हो गया। उसने केवल इतना कहा—'अब तू ही मेरा आश्रय है।'

'तू बुद्धिमान है बहिन।' रावण भी आश्वस्त हो चुका था। उसने खर को अज्ञा दी—'खर! अपने अनुजों तथा अनुचरों के साथ तुम शूर्पणखा का अनुवर्तन करो। अबसे इनका आदेश तुम्हें सदा स्वीकार्य होगा। दण्डकारण्य का शासन इनकी संरक्षकता में तुम्हें सम्हालना है। इनका उचित आदर करोगे तुम!'

'बेटा! यह क्या विचित्र वेश बनाया तुमने?' बहिन को विदा करके निकुम्भिला-मन्दिर में प्रविष्ट हुआ रावण। वह चौंक गया वहाँ की सज्जा देखकर। लङ्का का यह बर्हिभाग तो आज अद्भुत आश्रम बना है। उसकी राजधानी के समीप ऐसी यज्ञशाला! शतशः स्वर्ण स्तम्भों की दीप्ति और उनमें प्रतिबिम्बित यज्ञ कुण्डों से उठती अग्नि की लपटें। वह पुकार उठा—'तुम

यह क्या कर रहे हो पुत्र?'

'तात!' कृष्णमृग-चर्म का उत्तरीय, कर में पलाशदण्ड, पार्श्व में कमण्डलु, समींप स्रुवा, भाल पर भव्य त्रिपुण्ड, आज सचमुच किसी ऋषि के वंशधर के समान मेघनाद शोभित था। वह आतुरतापूर्वक उठा और साष्टांग प्रणिपात करता पिता के पदों के सम्मुख पृथ्वी पर पड़ रहा।

'बेटा! बात क्या है?' बड़े स्नेह से पुत्र को उठाकर हृदय से लगाया दशानन ने। सहसा उसकी दृष्टि आचार्य शुक्र पर पड़ी। वह स्वयं उन दैत्यगुरु के पदों में प्रणत होते बोला—'श्रीचरणों ने इसे सनाथ किया। आपका आगमन हुआ यहाँ—यह हमारा सौभाग्य!'

'दशग्रीव!' शुक्राचार्य ने आशीर्वाद देकर बताया—'दानवेन्द्र मय ने प्रार्थना की कि मैं उनके दौहित्र के यज्ञ का आचार्यत्व स्वीकार कर लूँ।'

'यज्ञ के द्वारा अपने शत्रु महेन्द्रादि सुरों को सुपुष्ट करने की क्या आवश्यकता थी तुम्हें पुत्र?' क्रोध नहीं था स्वर में, किन्तु एक हताश भाव था।

'आपके पुत्र ने अग्निष्टोम, अश्वमेध, बहुस्वर्णक गोमेघ, महामेध तथा वैष्णव यज्ञ के अनन्तर अब यह माहेश्वर यज्ञ भी सम्पूर्ण कर लिया है।' आचार्य अत्यन्त उल्लासपूर्वक बता रहे थे—'यज्ञ आज ही पूर्ण हुआ है। पूर्णाहुति के अनन्तर हम सब आपके पास उपस्थित ही होना चाहते थे।'

'आचार्य! सुर आपके भी संस्पर्धी हैं।' दशग्रीव ने कुछ खिन्न स्वर में पूछा—'उन्हें पुष्ट करने वाले कार्य में आपकी श्रद्धा यह जन समझ नहीं पाता।'

'यह शक्ति का स्रोत है।' आचार्य ने उसी उल्लास से कहा—'तुम्हारे पुत्र ने भगवान शिव को सन्तुष्ट कर लिया। अब यह जब कभी सविधि आहुति देगा, यज्ञाग्नि में-से इसके लिए एक इच्छाचारी दिव्य विमान प्राप्त होगा, जो तब तक इसके पास रहेगा, जब तक यह उससे स्वयं न उतरे। इसके अतिरिक्त संसार में घोर अन्धकार फैला देने वाली शक्ति-तामसी माया भी इसे प्राप्त हुई है। अक्षय त्रोण युगल, अछेद्य धनुष तथा अमोघ शक्ति तो इस सम्भार के सामान्य उपहार हैं जो आज मेघनाद को मिले।'

'अच्छा!' उत्साह नहीं आया राक्षसेश्वर में—'मेरे रहते तुम्हें चिन्ता क्या थी वत्स! अपने आराध्य ने तुम्हें पहिले ही अदृश्य होने की शक्ति देकर अजेय

बना दिया था।'

रावण ने अब प्रतिवाद व्यर्थ माना; किन्तु उसका स्वभाव अब यज्ञद्रोही हो चुका था। पुत्र ही यज्ञ करे, इससे वह प्रसन्न नहीं हुआ था।

'प्रत्येक का पाप उसे पीड़ित एवं अपमानित करता है!' अत्यन्त खिन्न स्वर था विभीषण का—'अब आप देख लें कि आपने जैसे औरों को अपमानित करके इन अबलाओं का अपहरण किया है, वैसे ही आपकी बहन का अपहरण हुआ। अपने ही अपराध से हमारा कुल अपमानित हुआ।'

'विभीषण! क्या कहते हो तुम?' दशग्रीव ने दाँतो से ओष्ठ दबाये—'कैसा अपमान? किसने क्या किया यहाँ?'

'हमारे मातामह के ज्येष्ठ भ्राता हैं माल्यवान। आपने उन्हें अपना सम्मान्य मन्त्री बनाया है।' विभीषण बता रहे थे उसी शिथिल स्वर में—'उनकी पुत्री अनला हमारी मातृस्वसा (मौसी) हैं। उनकी कन्या का नाम कुम्भीनसी है।'

'बहुत प्रिय है वह लङ्का की महारानी को!' रावण को भी अपनी वह बहिन कम प्रिय नहीं है—'क्या हुआ उसे?'

'मैं तप करते हुए जल में स्थित था। पुत्र मेघनाद अपने यज्ञ में व्यस्त था। कुम्भकर्ण अब भी शयन कर रहे हैं और आप तो अनुपस्थित थे ही।' विभीषण पूरा विवरण दे गये—'मधु नाम का महाबली राक्षस यहाँ अकस्मात् आ गया। उसने आपके शूरों को मार दिया और कुम्भीनसी को बालात ले गया।'

'देखो विभीषण!' रावण में आशानुकूल उत्तेजना नहीं आयी—'दुखी होने जैसी कोई बात नहीं है। कोई कन्या अपने योग्य वर के साथ चली जाय या कोई योग्य शूर किसी उपयुक्त कन्या का अपहरण कर ले, इसमें कुछ अनुचित नहीं है। हमारे राक्षस कुल की सम्मान्य प्रथा का नाम ही राक्षस विवाह है।

'इस प्रकार अनिच्छित आक्रमण से हमारा अपमान हुआ भ्रातः।' विभीषण का क्षोभ शान्त नहीं हुआ था।

'आक्रमण तो सदा अनिच्छित होता है। ये कन्याएँ वय प्राप्त होने पर स्वयं उपयुक्त वर अपना लिया करें तो ऐसा अवसर न आवे।' दशानन गम्भीर

था—'प्रश्न इतना ही है कि कुम्भीनसी हमारी बहिन है। यदि मधु को उसका प्यार प्राप्त नहीं है तो उसे हमारी आत्मीयता को पीड़ित करने का दण्ड मिलना चाहिए। यदि कुम्भीनसी उसे प्यार करती है तो यह सम्बन्ध कैसे हुआ, इसका विवेचन व्यर्थ हैं'

'भाई! मेरे समर्थ भाई! आप मुझ पर प्रसन्न हों!' दशानन इस बार महती सेना सजाकर आया था! असंख्य राक्षस। मेघनाद स्वयं संचालन कर रहा था उस सैन्य का। यह अपार राक्षस सैन्य मधुपुरी आयी। किसी ने अवरोध उपस्थित नहीं किया। राक्षस श्रेष्ठ मधु दृष्टि में ही नहीं आया। दशग्रीव जब मधु के भवन में पहुँचा, कुम्भीनसी उसके पैरों पर गिर पड़ी—'आप मेरे पति का वध न करें। मुझे विधवा मत बनावें सम्राट!'

'उठ! डर मत! दशग्रीव खुलकर हँसा—'तू जिसके लिए प्रार्थना करे, वह मेरे द्वारा पीड़ित नहीं हो सकता। कहाँ है तेरा पति? उसे यहाँ भेज। कह कि सुरेश से समर करने में उसे रावण का साथ देना है।'

'सच भाई! आप अमरावती पर आक्रमण कर रहे हैं?' कुम्भीनसी प्रसन्न हो गयी।

'और तू क्या समझती है कि यह महासैन्य मधु के लिए आयी है।' हँस रहा था राक्षसराज—'यहाँ तो हमने शिविर मात्र डाला है।'

अनुपम आतिथ्य किया मधु ने सम्पूर्ण सेना का। सम्पूर्ण शक्ति से लंकेश्वर को सन्तुष्ट करने में लग गया था।

रात्रि के प्रथम प्रहर में राक्षसराज नगर से बाहर एकाकी निकल पड़ा। चन्द्रज्योत्सना से चमकती वन-पंक्ति उसे पुलकित कर रही थी। रावण के पग बढ़ते गये।

'सुन्दरी, कौन हो तुम?' सहसा सम्मुख से जाती सर्वाङ्ग श‍ृङ्गार सज्ज अलौकिक रमणी पर दृष्टि पड़ी। यह रूप-राशि—अकल्पित था यह सौन्दर्य। रावण उसके सम्मुख बढ़कर खड़ा हो गया—'किसको सौभाग्यवान बनाने के लिए तुम्हारा यह श‍ृङ्गार है? मेरा हृदय आतुर उन्मथित हो गया है तुम्हें देखकर और..........।'

'मैं आपकी पुत्र वधू हूँ।' मुख नीचे करके उस सुकोमल सुषमा ने

सलज्ज कहा—'आपको मुझसे इस प्रकार कहना उचित नहीं।'

'मेरी पुत्रवधू!' आश्चर्य था स्वर में—'यह कैसे सम्भव है?'

'आज मैंने यह शृङ्गार आपके अग्रज कुबेर जी वे पुत्र नलकूबर के लिए धारण किया है। वे मेरी प्रतीक्षा करते होंगे!' उसने बताया—'मेरा नाम रम्भा है। आज मैं उनके लिए वाग्बद्ध हूँ। अब आप आज्ञा दें।'

'अप्सरा भी कहीं किसी की पुत्रवधू, पत्नी या और कुछ होती हैं' अट्टहास कर उठा रावण। कामान्ध हो चुका था वह। रम्भा का कर पकड़ लिया उसने।

'अब आज मैं आपके योग्य नहीं हूँ।' रोती, अस्तव्यस्त वस्त्रों, उन्मुक्त केशा, घर्षिता रम्भा जब अलका पहुँची, उसने नलकूबर के चरण पकड़ लिये—'अत्याचारी दशग्रीव ने मार्ग में मुझे बलपूर्वक घर्षित किया। आप समझ सकते हैं कि मैं अबला असमर्थ हूँ। मुझे क्षमा करें।'

'अबसे यदि रावण किसी नारी के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार करेगा तो तत्काल उसकी मृत्यु हो जायगी!' रक्तनेत्र, फड़कते अधर नल-कूबर ने हाथ में जल लेकर शाप दिया।

समाचार तो प्रसारित होते रहते हैं, विशेशतः ऐसे समाचार। इस शाप का समाचार सुना रावण ने। उसने कोई विशेष चिन्ता नहीं की। केवल इतना उसके मन में आया—'अपने पर इतना अंकुश तो अनुचित नहीं हैं।'

लङ्का भी पहुँचा ही यह समाचार। दशग्रीव के अन्तःपुर में जो उसके द्वारा अपहृत साध्वियाँ थी, उन्होंने सन्तोष की श्वास ली—'इस पापी द्वारा स्पृष्ट हम अपने आराध्य के पदों में पहुँचने योग्य तो रही नहीं; किन्तु हमारा धर्म सुरक्षित हो गया। सेविका बनकर किसी प्रकार आयु की शेष अवधि व्यतीत कर देनी है अब!'

⌘⌘⌘

18. इन्द्रजित—

दुर्दम दशग्रीव लङ्का से निकला ही था अमरावती पर आक्रमण करने। वह स्वयं समझता था कि सुरपति को समर में एकाकी पराजित नहीं किया जा सकता। मधुपुरी में उसने मार्ग-विश्राम तो किया ही, मधु को भी ससैन्य साथ ले लिया। अब राक्षसों की अपार वाहिनी ने अमरावती को अक्रान्त किया।

ऐरावत के आरोही ने अपना विकराल वज्र उठाया। एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु तथा अन्य मरुद्गणादि समस्त सुरों ने उनका अनुगमन किया।

दूसरा देवासुर-संग्राम ही था यह। शतक्रतु की सन्निधिने सुरों को समुत्साहित कर रखा था और राक्षस रावण के बल पर रण दुर्दम हो रहे थे। शस्त्रास्त्रों का अपूर्व दारुण आघात-प्रत्याघात, हुंकार-गर्जन-चीत्कार—असुर एवं अमरों के अङ्ग छिन्न हो रहे थे। रक्त के कर्दम में कितनी आर्त अधूरी आहें उठती हैं—अवकाश नहीं था किसी को इधर आकृष्ट होने का।

मारीच, प्रहस्त, महापार्श्व, महोदर, अतिकाय, अकम्पन, निकुम्भ, शुक, सारण, संह्राद, धूमकेतु, महादंष्ट्र, घटोदर, जम्बुमाली; महाह्लाद, सुप्तघ्न, यज्ञकोप, दुर्मुख, खरदूषण, त्रिशिरा, करवीराक्ष, देवान्तक, नारान्तक—अमित विक्रम असुर सेनानियों की नामावली दे पाना अशक्य है।

आहत में आघात करना शूर का शौर्य है तथा आहत हो उठना उसकी शोभा। मरण वहाँ मोक्षदाता है एवं परपक्ष की मृत्यु विजय की वरमाला। अवश्य ही पराजय अत्यन्त अप्रिय उपहार है युद्ध का; किन्तु श्री नारायण के अतिरिक्त नित्यविजय तो किसी की कभी न हुई, न हो सकती। आशङ्का अतुल विक्रम के आकांक्षी को हुआ नहीं करती।

दशग्रीव देखता नहीं—उपेक्षा कर देता यदि अपने अनीकिनी नायकों की पीड़ा-पराजय तक बात पहुँची होती। अकस्मात् युद्ध के कुछ मुहूर्तों के पश्चात् राक्षस दलपतियों का समूह ही आक्रन्दन करते आ पहुँचा था। 'छिः! इसी साहस पर तुम संग्राम करने आये हो!' रावण उनकी भर्त्सना करने ही जा रहा था।

'आपके मातामह सुमाली!' चीत्कार करते आर्त असुरों ने कहा—'हम

सब उनकी रक्षा करने में असमर्थ रहे। वसु सावित्र की प्रज्वलित गदा के आघात से वे सम्मान्य—अब तो उनका शरीर भी शेष नहीं। गदा की ज्वाला ने उसे भस्म में परिणत कर दिया उसी क्षण।'

'मैं देखता हूँ उस सावित्र को!' शोक मनाने का समय नहीं होता संग्राम-भूमि में। पिता की आज्ञा की अपेक्षा किये बिना मेघनाद ने अपना रथ आगे बढ़ा दिया। शचीपुत्र जयन्त का प्रयत्न व्यर्थ था। मेघनाद उनकी मृत्यु बन जाता यदि दौहित्र के प्रेम-परवश दैत्यश्रेष्ठ पुलोमा आहत, मूर्छित जयन्त को शीघ्रतापूर्वक उठाकर समुद्र में अन्तर्हित न हो जाते।

मेघनाद को भी अवसर नहीं मिला वसुश्रेष्ठ सावित्र के सम्मुख समर का। उसकी शरवर्षा सुरों को पराङ्मुख कर रही है, यह सुनते ही प्रधान सुर-सेनानियों के साथ शतक्रतु स्वयं आगे आ गये।

'वज्रधर इन्द्र अमोघ विक्रम कहा जाता हैं' दशग्रीव का वात्सल्य व्याकुल बना—'यह अल्प्राण असुरों पर भी अनेक बार अशनिका आघात कर चुका है। मेघनाद इस समय उसके सम्मुख जाय.....।'

सहज आशंका होता है प्रेम में। राक्षराज ने आतुरतापूर्वक रथ बढ़ाया। महेन्द्र के सम्मुख पहुँचकर मेघनाद को वारित किया उसने—'वत्स! तुम विश्राम कर लो दो क्षण! सुराधिपका मुझे सत्कार करने दो!'

दशानन के दस धनुष अनवरत मृत्यु-वर्षा कर रहे थे; किन्तु महेन्द्र का महान शौर्य भी शिथिल नहीं था। वाणों की वर्षा—उनके उड़ते-उछलते छिन्नांश—आकाश आच्छादित हो गया उन असंख्य अस्त्रों से। अन्धकार व्याप्त हो गया दिशाओं में। देवेन्द्र, दशग्रीव तथा मेघनाद के अतिरिक्त अन्य सभी शूर इस समय आकुल हो उठे थे। उन्हें अपना भी ज्ञान नहीं रहा था।

'मेरा रथ अबाध आगे बढ़ाते चलो!' रावण ने अपने सारथि को आदेश दिया—'अश्वों की गति अवरुद्ध मत करो! आगे कौन आता है, देखो मत। उदयाद्रि तक बढ़े चलो! बढ़ो!'

सचमुच जो सन्मुख पड़ा, यमराज का अतिथि बन गया। दशग्रीव आज अत्यन्त दुस्सह हो उठा था। वह अपने मातामह की मृत्यु का स्मरण करके उन्मत्त हो गया। अतुल वेग से बढ़ा जा रहा था उसका रथ शत्रु-सैन्य के मध्य।

'क्रोधोन्मत्त प्राणी मूर्ख हो जाता है!' विलक्षण बुद्धि बिड़ौजा के अधरों पर स्मित आया। उनका रथ मातलि ने तनिक एक ओर कर दिया—'इसे आगे बढ़ जाने दें आप सब। मैं राक्षस अनी को और पीछे खदेड़ देता हूँ और तब हम इसे बन्दी कर लेंगे।'

मधवा के शौर्य के साथ उनका मतिकौशल्य आज सुरों के सम्मुख आया। दशानन को अभी तक पता नहीं था कि उसका रथ एकाकी परपक्ष में कितनी कितनी दूर आ गया है। इधर स्वयं वज्री का विषम प्रहार उसकी सेना को पीछे खदेड़ रहा था। राक्षसी सैन्य विवश हो गयी भागने को।

'अब इसे पृष्ठ भाग से भागने नहीं देंगे!' महेन्द्र की योजना पूर्ण हो गयी। 'सम्मुख जाकर मैं शत्रु का अमरावती के निकट कारागार की ओर लौटने पर विवश करता हूँ।'

अकस्मात जब दशग्रीव का रथ रुकने पर विवश हुआ, उसको अपने शूरों की हुंकृतिका स्वर भी सुनायी नहीं पड़ता था। सम्मुख महेन्द्र और पार्श्व तथा पृष्ठ देश में देवयूथप—अब वह एक ओर उस असह्य आघात एवं दारुण दबाव के कारण लौटने को विवश बन चुका था।

'राक्षसेश्वर बन्दी बना लिये गये!' चारों ओर राक्षस चीत्कार करने लगे—'इन्द्र ने उन्हें पकड़ लिया!'

पकड़ लिया शत्रुओं ने मेरे शूर पिता को!' मेघनाद ने भी सुना और उसने माया का आश्रय लिया। अब वह अदृश्य हो चुका था। देवसेना पर अलक्ष्य आघात क्षण-क्षण में बढ़ते जा रहे थे।

असह्य शराघात—अमर अनीकिनी अस्त-व्यस्त हो उठी। शत्रु सम्मुख नहीं था और दिशाएँ वाणों की वर्षा से आच्छादित होती जा रही थीं। देवताओं में दारुण हाहाकार व्याप्त हो उठा।

मेघनाद देवसेना को छोड़ता महेन्द्र के समीप पहुँचा। उसने शक्र के सारथि मातालि एवं उनके अश्वों को अपने वाणों से मारकर मूर्च्छित कर दिया। इन्द्र रथ त्याग ऐरावत पर आरूढ़ हुए।

मेघनाद भी कम आहत नहीं हुआ था। उसकी वाण वर्षा को लक्ष्य करके देवता अस्त्राघात करते जा रहे थे। कट गया था उसका कवच।

रक्ताक्त हो गया था उसका सर्वाङ्ग किन्तु इस समय उसे अपने शरीर का स्मरण नहीं था। आघात:—शत्रु का शमन—एक ही लक्ष्य था उसके सम्मुख।

महेन्द्र ऐरावत पर आरूढ़ होकर भी कुछ कर नहीं सकते थे। मेघनाद अदृश्य था। उसके आघात असह्य होते गये। अन्त में मघवा का शरीर शिथिल पड़ने लगा। इसी सुयोग का लाभ लेकर मेघनाद ने उन्हें नागपाश में बाँध लिया।

'देवेन्द्र नहीं हैं! मायावी राक्षस अदृश्य रहकर उन्हें बन्दी बना ले गया!' देवताओं का क्रोध द्विगुणित हो उठा इस समाचार से।। मेघनाद तो मिला नहीं, सबने एक साथ रावण पर शस्त्राघात प्रारम्भ कर दिया।

वस्तुत: दशग्रीव अभी तक बन्दी नहीं हुआ था। वह आवृत हो गया था अमरों द्वारा और उनके घेरे से निकलने का प्रयत्न कर रहा था। इस समय क्रोध में भरकर देवताओं ने उसे ही अपना लक्ष्य बना लिया था। अकेला दशानन कहाँ तक इतने सुरों का सामना करता। अत्यन्त आहत हो उठा वह। उसका शरीर अपने रथ में शिथिल पड़ने लगा।

'पित:! शत्रु पराजित हो गये!' सहसा श्रवणों में सुपरिचित स्वर सुनायी पड़ा—'आप सावधान होकर सुरों के इस घेरे से बाहर आ जायें। मैं इन्हें अभी खदेड़ता हूँ। युद्ध समाप्त हो चुका। इन्द्र इस समय मेरा बन्दी है। उसके अभाव में सुर स्वत: हताश हो जायेंगे।'

सचमुच रावण को केवल सावधान होना पड़ा। सुरों का समूह अदृश्य मेघनाद के आघात सहन करने में असमर्थ था। उनका व्यूह बना ही नहीं रह सका। दशग्रीव का रथ सरलता से बाहर निकल गया।

राक्षसों के किए अब युद्ध व्यर्थ था। वे विजयी हो चुके थे। महेन्द्र को बन्दी बनाकर रावण अपने अतुत विक्रम पुत्र की प्रशंसा करता सेना के साथ सहर्ष लङ्का लौटा।

देवताओं के लिए अब युद्ध असम्भव था। उनके सञ्चालक अब उनके मध्य नहीं थे और वे समझ चुके थे कि अदृश्य रहने वाले शत्रु से संग्राम करने में वे असमर्थ हैं। उनके आश्वासन सृष्टिकर्त्ता ही हो सकते थे। अत: सुरों का आहत, पराजित, हतश्री समुदाय भगवान ब्रह्मा से अपनी विपत्ति सुनाने ब्रह्मलोक चल पड़ा उसी समय।

'संसार के स्वामी सुरों के साथ आ रहे हैं!' सुदूर आकाश में ज्योतिर्मय उज्ज्वल हंस दृष्टि पड़ा था और सुनायी पड़ा था उसके पक्षों से उच्चरित साम का सस्वर स्तवन। दशग्रीव शीघ्रतापूर्वक उठ खड़ा हुआ। उसने अनुचरों को अर्घ्यादि अर्चना प्रस्तुत करने का आदेश दिया।

'वत्स!' अर्चा सम्पूर्ण हो जाने पर भगवान् ब्रह्मा ने स्नेहपूर्वक मेघनाद को सम्बोधन किया—'तुम संसार के सर्वश्रेष्ठ शूर हो। त्रिलोकी के स्वामी इन्द्र को तुमने पराजित किया। अबसे तुम्हारा नाम इन्द्रजित हुआ; किन्तु सृष्टि में सुव्यवस्था स्थापित रहे, इसके लिए आवश्यक है कि तुम उन प्रजाध्यक्ष को उन्मुक्त कर दो!'

'आपका आदेश अस्वीकार करने का अविनय कोई नहीं कर सकता!' मेघनाद ने अञ्जलि बाँध ली—'किन्तु आप मुझ पर प्रसन्न हों! लोग आपको अपने तप से तुष्ट करते हैं, परन्तु आप इस जन के शौर्य से सन्तुष्ट हो जायँ! मुझे अमरत्व प्रदान करें।' 'निरपवाद अमरत्व अशक्य है वत्स!' ब्रह्माजी ने कहा—'ब्रह्माजी ने कहा—'तुम स्वयं सोचकर अपवाद स्वीकार करों।'

'जैसी आपकी आज्ञा!' मेघनाद ने आपत्ति नहीं की—आहुति देने पर यज्ञकुण्ड से मेरे लिए जो दिव्यरथ प्रगट होता है, जब तक मैं उस पर आरूढ़ रहूँ, मुझे कोई मार न सके। मैं अपना यज्ञ अपूर्ण छोड़कर जब युद्धोद्यत बनूँ, मृत्यु मेरा वरण कर सकती है; किन्तु मेरा वध वही कर सके जो द्वादश वर्ष अनिद्र रहा हो और स्थिर ब्रह्मचारी।' 'एवमस्तु!' भगवान् ब्रह्मा ने वरदान दे दिया और एक शक्ति दी—'यह मेरा प्रसाद—केवल एक बार तुम इसका अत्यन्त आपत्ति में प्रयोग कर सकते हो। यह अमोघ है यदि इससे आहत आघात के आने वाले सूर्योदय से पूर्व सचेत न कर लिया जाय।'

मेघनाद ने दोनों हाथ बढ़ाकर शक्ति ली और उसे सिर से लगाया। महेन्द्र को उसने बन्धन मुक्त कर दिया।

'मुझे मनुष्य मार सकता है। मान्धाता जैसे भी मनुष्य हो सकते हैं, वरदान माँगते समय मैंने सोचा नहीं था।' सृष्टिकर्त्ता के प्रस्थान के पश्चात् हर्षविह्वल रावण पुत्र को हृदय से लगाये कह रहा था—'द्वादशवर्ष अनिद्र एवं ब्रह्मचारी-असम्भव! तुम्हारे अपवाद कुछ अर्थ नहीं रखते। तुम सचमुच मृत्युञ्जयी हुए वत्स!'

19. बलि के यहाँ बन्धन—

समस्त सुर प्राय: संग्राम में विजित हो गये, किन्तु दशानन सन्तुष्ट कहाँ है। वह तो त्रिभुवनजयी कहलाने को उत्सुक है। असुर अपने हैं—विश्व विजय के अभीप्सु का अपना कहाँ कौन? अवश्य दानवेन्द्र मय को दशग्रीव सदा अपना मानता रहा। अब उसे एक ही धुन है—'दैत्य अभी अपराजित हैं।'

'विराट् रूप धारण करके विष्णु ने बलि को बाँध लिया।' दशग्रीव ने अपने ढङ्ग से अपनी बात राक्षसों के सम्मुख उपस्थित की। वह नहीं चाहता कि उसके अनुचरों में उसके प्रति अश्रद्धा, अविश्वास उत्पन्न हो। राक्षस दैत्यों के कुटुम्बी हैं और दैत्यों के प्रति उनका अपनत्व है। दैत्यराज बलि में अधिकांश की आस्था है। सम्भव है, बलि की अवमानना उन्हें आशंकित करें। अत: उसने बहाना बनाया—'विवश किया गया उनको सुतल में रहने के लिए।'

'भगवान वामन अब उनके द्वार पर गदापाणि उपस्थित रहते हैं।' विभीषण का स्वर भावक्षुब्ध था—'इतना सम्मान और किसी को सृष्टि में सुलभ नहीं हुआ।'

'यह शत्रु का छल है। वह अब भी बलि को बन्दी किये हैं सुतल में। वहाँ से वे दैत्येन्द्र उन्मुक्त न हो जायँ, इस आशङ्का से वह वहाँ नित्य उपस्थित रहता है।' रावण ने पूरा किया अपना वक्तव्य—'मैं उन दैत्यराज को बन्धन मुक्त करूँगा। इस बार मुझे एकाकी जाना है। अनुचरों की अपेक्षा नहीं होगी।'

राक्षसराज अपने निश्चय के सम्बन्ध में किसी की सम्मति सुनता नहीं। उसका विरोध कोई करे भी—व्यर्थ है। पुष्पक प्रस्तुत हो चुका था उसके आरोहण के लिए।

सुतल का मार्ग अपरिचित नहीं था रावण के लिए। वह वरुण की विभावरी पुरी तक प्रथम पहुँच चुका था। पुष्पक पृथ्वी के उस अदृश्य मार्ग से जो अन्तर में पहुँचता था, जो अन्धकाराच्छन्न था, अबाध चलता गया।

अमरावती का विजेता भी आश्चर्यचकित रह गया सुतल की सीमा में पहुँचकर। वह पुष्पक से उतर चुका था। बलिकी पुरी उसे प्रकाशपुञ्ज प्रतीत हुई। वहाँ भूमि रत्नजटित थी। भवनों की भित्तियाँ हीरक, पद्म राग या

मरकत निर्मित थीं। वैदूर्य मणि सोपान बनने में ही शोभित होने योग्य माना गया था। विद्रुमको कौन पूछे, माणिक्य एवं नीलम के कपाट थे दैत्य सदनों के। इतना ऐश्वर्य—सृष्टि में यह भी सम्भव है?

एक सर्वोच्च द्वार—स्वत: सिद्ध था कि वह वहाँ के अधीश्वर के राजप्रासाद का बहिर्द्वार था। प्रकाश को पुञ्जीभूत करके जैसे उसका निर्माण हुआ हो। दशग्रीव के पद अपने आप उस द्वार की ओर उठे।

सहसा रावण का शरीर काँपने लगा भय से, उसके अधर सूख गये। संग्राम में साक्षात् यमराज को पराजित करने वाला शूर यहाँ इस प्रकार सभीत हो उठा जैसे सिंह के सम्मुख शशक शिशु पहुँच गया हो।

दशानन की दृष्टि द्वार पर स्थित हो गयी थी—वह फटी-फटी आँखों देख रहा था, द्वार के मध्य में एक पुरुष खड़ा है। पुरुष—अवश्य वह पुरुषाकृति है; किन्तु साक्षात् कालपुरुष है वह। उसके मुख से ज्वाला निकल रही है। उग्रद्रंष्ट्र, ज्वलदग्नि मूर्धज, विशालबाहु—उस लोक भयङ्कर पुरुष की अङ्गकान्ति इतनी प्रखर है कि पता नहीं लगता उसके अङ्ग के वर्ण का। त्रिलोकी को अपने एक ही आघात में चूर्ण कर दे, इतनी विशाल गदा उसके दक्षिण कर में इस समय शान्त स्थिर है।

'तू यहाँ आया है!' अचानक उस पुरुष ने अट्टाहास किया। अपनावाम पद आगे बढ़ाकर उसने अंगुष्ठ से ऊपर फेंक दिया रावण को। आपने फुटबाल उछलते देखा है—राक्षसराज पूरे लक्ष योजन ऊपर उछाल दिया गया था, बिना किसी श्रम के—सहज भाव से![१]

दशग्रीव को अवसर नहीं मिला अपने को सम्हालने का। वह समझभी नहीं सका कि उसके साथ क्या व्यवहार होने जा रहा है। अकस्मात् वह उछाल दिया गया था, और लक्ष योजन ऊपर से जब वह पुन: उस पुरी की मणिभूमि पर गिरा, उसकी संज्ञा समाप्त हो चुकी थी।

श्याम सदा से विनोदी हैं। वह कहीं कोई रूप बना लें, किसी स्थान पर कितना भी गम्भीर बन जाय, उस क्रीड़ा-प्रिय का अपना स्वभाव कहाँ

---

१. 'येनाङ्गुष्ठेनपदा दशकंधरो योजनायुतायुतं दिग्विजय उच्चाटित:'
श्रीमद्भागवत ५.२४.२७

जाय। भगवान् वामन विप्र सही, अन्ततः अंश उनमें भी कन्हाई का ही आया था। उनको भी कौतूहल सूझा। दस सिर, बीस बाहु जैसे अद्भुत प्राणी को देखकर किसे कौतूहल नहीं होगा; किन्तु उनके उपयुक्त नहीं थी क्रीड़ा-प्रियता। अब वे सामान्य शिशुओं के सदृश विनोद करें, शोभास्पद बात नहीं थी। स्वयं न सही, शिशुओं का अभाव कहाँ था। वामनजी ने दैत्यपुरी के कुछ शिशुओं में अपनी शक्ति सञ्चालित कर दी।

'अद्भुत प्राणी आया है! अपने नगर में अपरिचित अद्भुत प्राणी आ गया है।!' अभी दशग्रीव की मूर्छा दूर ही हुई थी। उसे इतना आघात लगा था ऊपर से गिरने में कि अभी उठ पाना भी कठिन थां इतने में उसने दौड़ते समीप आते शिशुओं को देखा। वे बालक प्रसन्नता से पुकार रहे थे—'दस सिर, विंशति बाहु का प्राणी—बाँध लो इसे!'

दाँत पीस लिया दशानन ने। क्रोध से उसकी मुट्ठियाँ बँध गयीं। इन दैत्य बालकों को वह मसल डालेगा! ये सब अत्यन्त अशिष्ट हैं। राक्षसराज का यह अपमान!

'दंत कटाकट किं कर्त्तव्यं' एक बच्चे ने उसे दाँत पीसते देखा और धौल धर दी सिर पर। 'बाँधो इसे!' वे अपने उत्साह में कूद रहे थे। सचमुच बालकों ने बाँध लिया रावण को। जिसे सुरेश भी बन्दी नहीं कर सके थे, भगवान वामन की सङ्कल्पजन्य-शक्ति-संयुक्त बालकों ने उसे बाँध लिया सामान्य रस्सों में।

'चल सीधे!' दण्ड, पत्थर और थप्पड़-घूँसे—बालक पीटते जा रहे थे पशु की भाँति। दशग्रीव अपने को कोई प्रतिकार करने में असमर्थ पा रहा था। वह केवल चीत्कार कर सकता था।

'चुप रह!' अश्वशाला में बालकों ने उसे बाँध दिया। उसके दोनों पैरों एवं सभी बाहुओं को पृथक्-पृथक् रस्सों से जकड़कर भली प्रकार बाँधा उन बालकों ने। इस अद्भुत प्राणी को पाकर वे अत्यन्त प्रसन्न थे।[१]

'अच्छा गुर्राता!' बालक ताली पीट रहे थे, उछल रहे थे और बार-बार मार रहे थे थप्पड़, घूँसे, पत्थर या लकुट से। दशग्रीव की दुर्दशा हो गयी। आज

---

१. **बलिहि जितन एक गयउ पताला।**
राखेउ बाँधि सिसुन्ह हय साला॥

दया लागि बलि दीन्ह छोड़ाई॥

उसने समझा कि इस अद्भुत नगर में वह कितना नगण्य एवं असमर्थ है।

'क्या कर रहे हो तुम सब?' अकस्मात् नहीं आये थे दैत्येन्द्र वहाँ। उन्हें अपने उस अश्व का पूजन करना था जिसके द्वारा उन्होंने सौ अश्वमेध किया था। अपने उस अद्वितीय श्यामकर्ण अश्व की नित्य अर्चा करने अनुचरो के साथ प्रतिदिन दैत्यराज बलि अश्वशाला में आते थे। आज बालकों का समुदाय वहाँ एकत्र देखकर उन्होंने पूछ लिया।

'हमने अद्भुत प्राणी पाया है!' बालक अपने आनन्द में उल्लसित थे—'देखिए! यह कितना दुष्ट है! कैसी आँख दिखाता है।'

'अरे! तुम सब एक परवश प्राणी को पीड़ित कर रह हो, छिः!' पहचान लिया दैत्यनेन्द्र ने दशग्रीव को जो अब अवनत वदन लज्जा से स्थिर था—'अबल पर अत्याचार करना अच्छी बात नहीं! छोड़ दो इसे!'

'महाराज का आदेश न मानने वाले का मस्तक श्रीहरि का सहस्त्रार सुदर्शन चक्र तत्काल काट देता है!' बालकों ने अपनी माताओं से बार-बार यह बात सुनी है। अनेक उदाहरण सुने हैं इसके। वैसे भी अपने सम्राट के प्रति उनकी असीम श्रद्धा है। महाराज उनसे अत्यन्त स्नेह करते हैं और उनका तो शत्रु सुर भी सम्मान करते हैं। बालकों ने दशग्रीव के बन्धन खोल दिये और शान्त होकर एक ओर खड़े हो गये।

'अन्ततः ये अज्ञ शिशु हैं। इनका अपराध आप क्षमा कर दे!' सहज शील था बलि के स्वर में—'आपको ये पहचानते नहीं। यदि अयोग्य प्रतीत न हो तो मेरा आतिथ्य आप स्वीकार करें।

'आपका अनुग्रह ही अत्यधिक आदर है मेरे लिए!' दशग्रीव अब किस मुख से कहे कि वह यहाँ क्यों आया था। इतना साहस किस शक्तिपर करे। इस अपमान के पश्चात् यहाँ से शीघ्र निकल जाना उसे अभीष्ट था—'अब आप आज्ञा दें!'' वह प्रह्लाद के पौत्र को पराजित करने आया था!' अश्वशाला से लौटते बलि को भगवान् वामन ने बतलाया।

'आपका अनुग्रह जिसे अप्राप्त है, भाग्यहीन है वह अज्ञ!' बलि भावविह्वल हो गये।

ꕥꕥꕥ

20. सहस्त्रार्जुन—

उस दिन पुष्पक पश्चिम समुद्र तट की ओर पहुँचा था, जहाँ अहर्निश अग्निदेव साक्षात् समुपस्थित रहते थे। अपने आलोक से दीप्त वह माहिष्मतीपुर अद्‌भुत थी। अपार था उसका ऐश्वर्य।

'कौन यहाँ शासन करता है?' सहज पूछ लिया रावण ने। अवनि उसके द्वारा जब विजित है तो यहाँ का शासक उसका स्वागत करने आगे आवेगा, यह आशा थी उसके स्वर में।

'अर्जुन' प्रहस्त ने परिचय दिया—'वे हैहय-नरेश सहस्त्रबाहु हैं एवं अब तक अपराजित हैं। सुना है 'योगेश्वर अत्रितनय दत्त उन पर अनुकूल हैं।'

'पृथ्वी में दशग्रीव एकमात्र अपराजित प्रजाध्यक्ष रहेगा।' रावण ने प्रेरित किया पुष्पक को नगर द्वार की ओर। वहाँ पहुँचकर द्वारपाल को उसने सूचना दी—'अपने अधिपति से कहो, सुरासुरजयी रावण से संग्राम करे या पराजय स्वीकार करके यहाँ आवे।'

'अमित पराक्रम महाराज अर्जुन इस समय नहीं हैं' द्वारपाल ने सविनय सूचना दी—'वे अपनी रानियों के साथ नर्मदा तट पर कहीं आमोद करने पधारे हैं। आशा है, आप-जैसे सम्मान्य शूर अधिपतिहीन नगर को आक्रान्त नहीं करेंगे।'

'अर्जुन के लौट आने पर मैं आऊँगा।' रावण ने कहा—'उसे कह देना कि संग्राम को सज्जित रहे।'

इस बार पुष्पक लङ्का से रात्रि में ही चला था। निशाचरों को निशा-यात्रा प्रिय है। माहिष्मती पहुँचा था पुष्पक अरुणोदय के पश्चात् भगवान शशाङ्क शेखर का स्वर्णलिङ्ग सदा उसके साथ रहता है। अब उन सदाशिव की अर्चना का आवश्यक समय हो गया।

रेवा के पावन पुलिन पर पुष्पक उतर गया। आज्ञा पाकर अनुचरों ने आस-पास से पुष्प चयन किया तथा पुलिन पर एक छोटा पुष्प पर्वत प्रस्तुत कर दिया। स्नान करके बालुका पीठ पर रावण ने स्वर्णलिङ्ग स्थापित

किया। उत्तराभिमुख बैठकर वह अपनी अर्चना में एकाग्र हो गया।

'यह क्या? क्या हो रहा है यह?' प्रहस्त ने ही पहले ध्यान दिया। नर्मदा का जल अकारण बढ़ रहा था बड़ा प्रबल वेग था बाढ़ मे। देखते-देखते ही पुलिन पानी में डूब गया। दशग्रीव की पूजा के पुष्प प्रवाहित हो गये। जल का वेग उल्टी दिशा में उमड़ा जा रहा है। जैसे किसी ने रेवा की धारा उलट दी हो! इस समय दशग्रीव अपनी पूजा समाप्त कर चुका था। वह अर्चा के अनन्तर शिव-लिङ्ग के समींप स्तवन करता हुआ नृत्य-निमग्न था। अंगुलि के संकेत मात्र से उसने अनुचरों को आदेश दिया कि नदी की धारा की ओर आगे जाकर जल के अकस्मात् बढ़ने का कारण अन्वेषण करें।

जल जैसे अकस्मात् बढ़ा था—एक साथ ही घट गया। सरिता-तट के पक्षी पुनः आश्वस्त हो गये। अवश्य बाढ़ के एक साथ घट जाने से छोटी मछलियाँ पानी के साथ जा नहीं सकी थीं। वे पुलिन पर तथा पत्थरों की सन्धि में तड़प रही थीं। पक्षी अब उनको अपना आहार बनाने में लग गये थे।

'यहाँ से अर्धयोजन पश्चिम अर्जुन अपनी पत्नियों के साथ जल-क्रीड़ कर रहा है।' शुक तथा सारण अपने अधीश्वर का संकेत समझकर आकाश मार्ग से उड़ते गये थे और अब लौट आये थे—'वही अपनी सहस्त्रभुजा से रेवा का प्रवाह अवरुद्ध कर रहा था।'

'हम तो उसका अन्वेषण ही कर रहे थे।' दशग्रीव का स्तवन समाप्त हो चुका था! वह उद्यत हो गया अर्जुन से युद्ध करने के लिए। 'अब उसे इस अशिष्टता का दण्ड भी देना है।'

'तुम अपने नरेश से कहो कि वे यहाँ आकर रावण से युद्ध करें!' दशानन ने सरिता के समींप अर्जुन के सैनिकों से साहंकार कहा—'अब उनका समय समींप आ गया है।'

'आप आज यहाँ विश्राम करें।' सैनिकों के स्वर में व्यंग था—'महाराज को स्वच्छन्द स्नान-क्रीड़ा कर लेने दें। इसके अनन्तर वे आपको ऐसा युद्ध दान देंगे कि..........किन्तु यदि आप असमर्थ हों रुकने में तो शस्त्र उठावें। महाराज के हम सेवकों से संग्राम प्रारंभ हो।'

'अच्छी बात ! अर्जुन से युद्ध के पूर्व मुझे भी आहार चाहिए!' दशग्रीव

टूट पड़ा उन सैनिकों पर। उसके अनुचर भी प्रचण्ड आघात करने लगे। अर्जुन के सैनिक अधिक स्थिर न रह सके। राक्षसों ने कुछ को भक्षण कर लिया, कुछ मारे गये, कुछ आहत आर्तनाद करते भागे।

'राक्षसराज रावण अपने अनुचरों के साथ आया है!' क्रन्दन करते कुछ सेवक वहाँ समीप तट पर चले गये जहाँ अर्जुन स्त्रियों के साथ जल-क्रीड़ा कर रहा था—'उसने आपके अधिकांश सेवकों का संहार कर दियां!'

'डरो मत!' आरक्त नेत्र अर्जुन का सिंहनाद सुनायी पड़ा—'मैं आ रहा हूँ—।'

अपनी सुन्दरी स्त्रियों को उसने वहाँ जल से बाहर किया। अब स्वयं आर्द्र वस्त्र विशाल गदा उठाये शिविर की ओर झपटा। उसका वेग असह्य था। प्रहस्त ने उसे रोकना चाहा; किन्तु गदाघात से स्वयं मूर्छित हो गया। मारीच, शुक, सारण—राक्षसेश्वर के समस्त अनुचर सहस्रार्जुन के सीधे आक्रमण में या तो आहत होकर भूमि पर पड़े थे या भय से भाग चुके थे।

दशानन अवश्य अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करता समर में स्थिर था। हैहय सम्राट के आघातों का उसने अनुपम प्रत्युत्तर दिया। प्रचण्ड पराक्रम था उसकी भुजाओं में; किन्तु जब हैहय अर्जुन ने अपनी भयङ्कर गदा उसकी छाती पर पटक दी—इतना अवश्य हुआ कि गदा दो टुकड़े हो गयी, किन्तु रावण भी अत्यन्त आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और पीड़ा से चीत्कार करने लगा।

अर्जुन ने अवसर का लाभ उठाया। उसने आगे बढ़कर आहत रावण को पकड़कर बाँध लिया। अब रावण के अनुचरों का चिल्लाना तथा आघात करना व्यर्थ था। वे कब तक उस सहस्रबाहु के सम्मुख टिक सकते थे?

'आज अर्जुन ने आततायी रावण को बाँध लिया!' अमरावती में देवता आनन्दोत्सव मना रहे थे। महर्षि पुलस्त्य ब्रह्मलोक में अपने पिता ब्रह्माजी की वन्दना करके लौट रहे थे। देवताओं के द्वारा यह समाचार पाकर उनका स्नेह स्थिर नहीं रह सका। वे पूरे वेग से आकाश मार्ग से ही माहिष्मती पहुँचे!

'भगवान भास्कर के समान प्रभापूर्ण महर्षि पुलस्त्य पधारे हैं!' द्वारपाल के लगभग साथ ही महामन्त्री भी अपने महाराज के समीप आये थे।

'हमारा अहोभाग्य!' अर्जुन ने त्वरापूर्वक अर्घ्य प्रस्तुत करने को कहा और अपने पुरोहितों के साथ आगे बढ़ा।

'आज हमारा कुल कृतार्थ हुआ। हमारे सत्कर्म सफल हुए!' प्रणिपात के अनन्तर अर्जुन श्रद्धा समवेत स्वर में बद्धाञ्जलि बोला—'आपके श्रीचरण यहाँ आये, आज यह पुरी अमरावती सदृश हो गयी। मैं अपने परिवार, परिकर एवं समस्त प्रजा के साथ आपका अनुचर हूँ। आज्ञा करें, सेवक किस सेवा से अपने को सौभाग्य-भाजन समझे!'

'राजन! आपने अपने पौरुष से मेरे पराक्रमी पौत्र को बन्दी बना लिया है।' महर्षि पुलस्त्य के स्वर में संकोच था—'स्नेह परवश मैं याचना करता हूँ कि आप उसे छोड़ दें!'[१]

'मैं अभी राक्षसेश्वर को उपस्थित करता हूँ।' अर्जुन स्वयं उठा। उसने दशग्रीव को बन्धन-मुक्त किया, वस्त्राभरणों से अलंकृत किया। महर्षि के समीप उनके साथ आया और रावण से बोला—'मित्र! ये आपके पितामह मेरे भी परमपूज्य हैं। अतः हम अब सदा सुहृद रहेंगे।'

'आपका सौजन्य मुझे सदा स्मरण रहेगा।' दशग्रीव पितामह के सम्मुख अत्यन्त लज्जित लग रहा था। उसने सच्चाई से कहा—'आपका मित्र कहलाने में मैं गौरव मानता हूँ।'

'अलर्गल युद्ध अच्छा नहीं होता।' अर्जुन अपना स्वभाव ही बता रहा था—'आनन्द ही सबको अभीष्ट है। अपने उल्लास की सामग्री सुलभ हो तो प्राणी को परितुष्ट रहना चाहिये!'

'अब आप अनुमति दें!' महर्षि प्रस्थान करना चाहते थे। रावण भी जाने को उत्सुक था। अर्जुन ने उसे हृदय से लगाया और महर्षि के पदों में प्रणत हुआ।

⌘⌘⌘

---

१. सो पुलस्य मुनि जाइ छुड़ावा।

21. वाण—

'आप मुझसे युद्ध करेंगे?' इस बार दशग्रीव एकाकी आया था। माहिष्मती की पराजय के पश्चात् वह अपने अनुचरों के साथ किसी प्रसिद्ध पराक्रमी से संग्राम के लिए जाना नहीं चाहता था। अब वह समझ गया था कि विश्व में अकेला वही शूर नहीं है और अपनों के सम्मुख पराजय में अपमान की पीड़ा अधिक उग्र हो जाती है। पुष्पक से वह शोणितपुर अकेला आया। एक सहस्रबाहु का शौर्य वह देख चुका था और उनसे मैत्री कर चुका, ऐसी अवस्था में दूसरे सहस्रबाहु से मिल लेना उसे आवश्यक जान पड़ा।

'आप हमारे अतिथि हैं। हमारे नगर में आये हैं तो आतिथ्य स्वीकार करें!' दैत्येन्द्र बलि के अमित विक्रम पुत्र के स्वर में शान्त सम्मान था—'समर मुझे अप्रिय नहीं हैं, अपितु मैं अपने लिए उसे अनिवार्य आवश्यक मानता हूँ। मेरी सहस्र भुजाएँ सम बल से संग्राम किये बिना कण्डूति करती हैं। कष्ट हो रहा है मुझे इससे।

'तब आप शस्त्र ग्रहण करें!' रावण का दर्प दीप्त हुआ—'मेरा यही उचित आतिथ्य होगा। आपको मैं आज सन्तुष्ट कर दूँगा संग्राम में।'

'मेरा अहोभाग्य!' वाण के स्वर में व्यंग हो भी तो उसे लक्ष्य करना अशक्य था—आप एकाकी पधारे, यह अधिक अच्छा हुआ। सम्भवतः आपको पता नहीं है कि शूलपाणि भगवान शंकर इस जन पर सन्तुष्ट होकर इस पुरी के पालक बन गये हैं। कोई आततायी यहाँ आक्रमण करे तो उन प्रलयंकर का कोप उसे प्रथम ही यमपुर भेज देता है। मुझ तक किसी आक्रमणकारी का आ पाना असम्भव हैं।'

'वे अखिलेश मेरे भी आराध्य हैं।' रावण का उत्साह थकित होने लगा।

'समदर्शी शिव का शत्रु कोई नहीं; किन्तु अपने पराये के भेद से वे शून्य प्रभु, सेवक की सेवा सदा सार्थक करते आये हैं। इसी से यहाँ वे स्वयं नगररक्षक बने हैं और अपने वचन की रक्षा में उन्हें कोई असमर्थ नहीं कर सकता।' वाण शान्त स्वर में ही कह गया—'आपको इसकी चिन्ता नहीं

करनी चाहिये। आप एकाकी हैं, इसलिए हमारा द्वन्द्व युद्ध ही होगा। हमारे आराध्य उसे तटस्थ देखेंगे। मेरे अनुचर भी व्याघात नहीं बनेंगे।'

'मैं प्रस्तुत हूँ।' दशग्रीव ने अभी तक आसन स्वीकार नहीं किया था—'आप स्वयं स्थान निश्चित कर लें और शीघ्र चलें मेरे साथ।'

'अल्प-शक्ति प्राणी से संग्राम अत्याचार कहा जाता है। दैत्येश्वर प्रह्लाद का प्रपौत्र किसी अल्प प्राण को पीड़ित नहीं करता। वह अत्याचारी नहीं है।' वाण बहुत गम्भीरता से बोल रहा था। 'अत्यन्त क्षुधातुर को आधे पेट से भी अल्प भोजन मिले—इससे अच्छा होता है कि वह अनाहार रहे। उसकी व्यथा बढ़ जाती है। अत्यन्त अल्पाहार व्यर्थ है उसके लिए। इसी प्रकार अशक्त से संग्राम की स्थिति है। पूरा श्रम न हो पाये—करों की कण्डूति तो मिटती नहीं, पूरे शरीर में पीडा होने लगती है।'

'आप मेरा परिहास करते हैं!' दशग्रीव के नेत्र अरुण हुए।

'आपको अपमानित करना मेरा उद्देश्य नहीं; किन्तु मेरी एक प्रार्थना पहिले आप स्वीकार करें!' वाण विनयपूर्वक बोल रहा था—'वह सिंहासन पर एक ज्योतिर्मय रत्न-कुण्डल है, उसे आप उठाकर मुझे दे दें—बस, मैं तत्काल आपसे द्वन्द्व युद्ध करने चलता हूँ।'

'यह लो अपना........' कहना नहीं होगा कि रावण क्रूद्ध हो गया था। वाणासुर के शब्दों में उसे अपनी उपेक्षा स्पष्ट सूचित हुई। एक हाथ से कुण्डल उठाकर उसे वह वाण के मुख पर पटक देना चाहता था; किन्तु उसका वाक्य अधूरा रहा गया। मुख के शब्द मुख ही में रह गये। कुण्डल को वह जितना अल्प परिमाण समझता था, उतना ही वह भारी प्रतीत हुआ।

अब दशग्रीव कुण्डल की ओर आकृष्ट हुआ। वह समझ गया कि यह उसकी शक्ति की परीक्षा ली गयी है। एक हाथ से उपेक्षापूर्वक कुण्डल उठा लेना असम्भव था। कहने भर को वह कुण्डल था। दशानन देख रहा था कि वह एक कुण्डलाकार विशाल चमकता चक्र है। अपने विंशति बाहु उसने लगाये। कैलाश को कौतूहल में क्रोधपूर्वक उठा लेने वाले रावण के बाहु आज असमर्थ हो रहे थे। उसके दस भाल स्वेद कणों से भर उठे। मुख अरुण हो उठा। पूरी शक्ति लगाकर भी वह सफल नहीं हो रहा था।

'अब आप मेरी धृष्टता क्षमा करें और यहाँ आकर आसन ग्रहण करें।' वाण के स्वर में अब भी व्यंग नहीं था—'मुझे अत्यन्त खेद है। अतिथि को इस प्रकार मुझे लज्जित नहीं करना चाहिये।'

'मैं स्वयं लज्जित हूँ।' दशग्रीव का दर्प चूर्ण हो चुका था। वह कुण्डल छोड़कर वाणासुर के समीप आ खड़ा हुआ—'मैं आपसे संग्राम का नहीं सौहाद्र का ही आकांक्षी हूँ।'

'यह हमारे दैत्य कुल के आदिपुरुष हिरण्यकशिपुजी का कर्ण कुण्डल हैं!' वाणासुर बता रहा था—'हमारा यह सम्मान्य कुल भूषण है। केवल पिता को प्रणाम करने जाते समय मैं इसे कर्ण में धारण करता हूँ; क्योंकि यह उन्हीं के प्रसाद रूप में मुझे प्राप्त हुआ है। वैसे मुझे यह कहने में कोई लज्जा नहीं कि कुण्डल भारी है और मेरी कर्णपल्ली उससे पीड़ित होती है।'

'आप उन्हें पहिन पाते हैं!' आश्चर्य था दशानन के आनन पर; किन्तु उसे अकस्मात् दैत्येन्द्र बलि के पुर में अपनी दुर्गति तथा दैत्य बालकों की अपरिमित शक्ति का स्मरण हुआ। आश्चर्य स्वतः शान्त हो गया। अब स्वर में आग्रह आया—'आप मेरी मैत्री स्वीकार करेंगे?'

'अवश्य! आप दानवेन्द्र मय के जामाता हैं और मेरे पूज्य पिता के भी अतिथि रह चुके हैं।' वाण ने अब आगे बढ़कर अपनी दोनों भुजाओं में भर लिया दशग्रीव को—'आपकी मैत्री मुझे भी अपेक्षित है।'

'आप सहज ही त्रिभुवनजयी हो सकते हैं!' दशानन ने उल्लासपूर्वक तो नहीं कहा; किन्तु अकस्मात् उसके मुख से यह बात निकल गयी।

'मुझे इसकी कोई आकांक्षा नहीं।' वाणासुर के स्वर में व्यथा आयी—'मृत्युलोक की चर्चा व्यर्थ है। सुरों में सब अल्प प्राण हैं और असुर अपने आत्मीय हैं। हीन-शक्ति प्राणियों पर अत्याचार मुझे अत्यन्त अप्रिय है। मेरे कर कण्डूति करते हैं। कोई सम शक्ति शत्रु न मिलने से मुझे कष्ट है। लगता है, कभी अपने आराध्य से ही मुझे युद्ध की प्रार्थना करनी पड़ेगी।'

'आपका सम शक्ति शत्रु!' दशग्रीव की श्रद्धा हो गयी वाण की शक्ति में—'मित्र, यह असम्भव है!'

ॐ ॐ ॐ

22. बालि—

'विश्व में दो सहस्रबाहु हैं; किन्तु उनमें अर्जुन अपने सुखोपभोग में ही सन्तुष्ट है और वाण अपने समान बली से समर का व्यसनी।' आज रावण पुनः विश्वजयी होने के उत्साह में था—'दो में-से एक भी महत्वाकांक्षी नहीं है। अन्ततः विधाता बुद्धिमान है, उन्होंने रक्षा का दायित्व हम राक्षसों को दिया है।'

'पधारें महाराज!' अपने विचारों में मग्न दशग्रीव अन्तःपुर में आ पहुँचा। मन्दोदरी ने आगे आकर उसका स्वागत किया।

'आज सम्राज्ञी का स्वर कुछ शिथिल है!' सहसा रावण की दृष्टि अपनी रानी की ओर उठी। वह मन्दोदरी का सम्मान करता है। अन्तःपुर में त्रिभुवन की श्रेष्ठतम सुन्दरियाँ भले सहस्रशः हों, राक्षसेश्वर की प्राणप्रिया उसकी प्रथम पत्नी ही थी। उसे लगा कि आज उसकी प्रियतमा के नेत्रों में उल्लास नहीं है—'महारानी का मुख आज म्लान क्यों है?'

'मेरे दो सहोदर भाई थे।' बिना किसी भूमिका के मन्दोदरी बोली—'दुन्दुभी बानर राज बालि द्वारा मारा गया था और मायावी की मृत्यु भी उसे वहीं ले गयी। तुम नित्य युद्धोद्यत रहते हो! मुझे वचन दो कि किष्किन्धा कभी नहीं जाओगे!'

'इन्द्रजित का मैं पिता हूँ और तुम्हें पता है कि बालि इन्द्र-पुत्र है!' अट्टहास करके हँसा रावण—'राक्षसेश्वर की प्रिया का भूषण ऐसा भय! तुम्हारे भाइयों की मृत्यु का कारण बनने वाला मृत्यु का अतिथि होकर रहेगा।'

'दिव्य जातियों में किन्नर, गन्धर्व, यक्ष आदि के समान रीछ और बानर भी अपने को उपदेव मानने में गौरव मानते हैं!' अन्तःपुर से रावण राजसभा में आया था। उसने किष्किन्धा का वर्ण पूछा और माल्यवान ने बताया—'ये नाग जाति से भी अधिक सुरों से सम्बन्ध रखते हें। बालि इन रीछ-बानरों का अधिपति है और उसका बल अमाप है।'

'मेरे दो श्यालक मार दिये उसने।' दशग्रीव क्रूद्ध हो रहा था—'लङ्का और जनस्थान (दण्डकारण्य) के मध्य मैं अपना कोई शत्रु सहन नहीं कर सकता।'

पुष्पक को प्रस्तुत होने में विलम्ब नहीं हुआ करता। आज दशानन अनुचरों के साथ युद्ध के लिए निकला।

'बालि कहाँ है? उससे कहो कि सुरासुरजयी दशग्रीव युद्ध के लिए उसका आह्वान कर रहा है।' किष्किन्धा के द्वार पर पुष्पक उतरा था।

'अच्छे आये आप!' बालि के मन्त्री तथा तारा के पिता वानरश्रेष्ठ तार कह रहे थे—'तब तक आप इन श्वेत पर्वतों का दर्शन कर लें। बालि से युद्ध करने आये दानवेन्द्र मय के शूर पुत्र दुन्दुभी की अस्थियाँ हैं ये। आपकी अस्थियाँ इनके समीप बहुत भली लगेंगी!'

'बालि कहाँ है?' गर्जन किया दशग्रीव ने—'मैं किसी बुद्धिहीन वृद्ध बानर की बात नहीं सुनना चाहता!'

'जीवन के क्षण अमूल्य हैं। एक बार जगत को दृष्टि भर देख लीजिये।' तार के स्वर में भरपूर विनोद था—'बालि से युद्ध करके कोई बचा नहीं है—बच सकता भी नहीं।'

'उसे शीघ्र यहाँ भेजो!' रावण क्रोध से काँप उठा।

'ओह! आपको बहुत कष्ट है। जीवन से आप शीघ्र छुटकारा चाहते हैं। मरने की बहुत उतावली है आपको!' तार का व्यंग बना ही रहा—'हम वानर मांसाहारी नहीं होते होते और बालि ऐसी कोई आराधना नहीं करता जिसमें बलि आवश्यक हो; किन्तु आप चिन्ता न करें, मेरा जामाता अत्यन्त दयालु है। जीवन जिन्हें भारी होता है, वहीं उससे युद्ध करने आते हैं, इसे वह ठीक समझता है। आपको वह झटपट मार देगा।'

'वकवादी बानर!' दशानन ने कृपाण निकाली पृथ्वी पर पैर पटक कर।

'आप इतने क्रूद्ध क्यों होते हैं? बालि किष्किन्धा में नहीं है।' तार निर्भय व्यंग कर रहा था—'मैं चाहता था कि आपकी अस्थियाँ यहीं शोभित हों; किन्तु आपको इतनी उतावली है तो कोई बात नहीं, वह कहीं भगवती कन्याकुमारी के समीप दक्षिण समुद्र तट पर इस समय प्रातःकालीन पूजन कर रहा होगा। वहीं पधारें आप।'

स्वर्ण शैल के समान सुशोभित बानरराज बालि समुद्र के समीप पूर्वाभिमुख अपनी अर्चना में लगा था। उसने देख लिया कि आकाश से एक रत्न-विमान

पीछे पुलिन पर उतरा है। उसे पहचान लिया कि वह पुष्पक है और उससे उतरने वाला दशग्रीव कज्जल वर्ण लङ्का का अधिपति ही है, जो अब पीछे से दबे पैर उसकी ओर आ रहा है। वह समझ गया कि यह दुष्ट अकस्मात् आकर उसे पकड़ लेना चाहता है।

विचित्र बात थी। बानरेन्द्र बालि न हिला और न उसने पीछे देखा। वह इस प्रकार स्थिर रहा, जैसे उसे कुछ पता न हो। अवश्य उसके सावधान श्रवण पदचाप सुनने में संलग्न थे।

रावण समझता था कि बालि उसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ है। वह अत्यन्त सावधानी से आगे बढ़ा जा रहा था बालि के समीप। सहसा बिना पीछे देखे बानरराज ने अपना एक हाथ पीठ की ओर करके पकड़ लिया राक्षस रावण को। रावण कुछ समझ सके, छटपटा सके, इससे पूर्व तो बालि ने उसे अपनी बायीं भुजा के नीचे कक्ष में दबा लिया और अब वह उड़ा जा रहा था आकाश-मार्ग से पश्चिम समुद्र की ओर। रावण के अनुचरों का आक्रोश व्यर्थ था। वे पीछे उड़े अवश्य; किन्तु बलवान बालि के पवन वेग का पीछा वे कर नहीं सकते थे।

'आप कहाँ से लाये यह अद्भुत जन्तु?' बालि नित्य-क्रमानुसार चारों समुद्रों के तटों पर गया। उसने सब कहीं अपनी अर्चा सम्पन्न की। इस प्रकार नित्य-पूजन पूर्ण करके आकाश-मार्ग से किष्किन्धा आया। अन्त:पुर में पहुँचकर अपनी पत्नी तारा के सम्मुख उसने रावण को कक्ष से निकाला। इतनी देर में उसने रावण को इतना दबाया था कि वह मूर्छित हो चुका था। तारा बड़े कौतूहल से देख रही थी—'इसे अपने युवराज के पलने में बाँध दो। इसके दस मस्तक उपयुक्त दीपाधार (दीवट) बन सकते हैं।'

'यह राक्षसराज रावण है।' बालि हँसा—'लङ्का का स्वामी।'

'कोई हो!' तारा के स्वर में उपेक्षा थी—'कुमार इसके मस्तकों पर पद पटक कर प्रसन्न होगा। वह इसे देखकर भली प्रकार किलकेगा। मैं इसके सिरों पर सायंकाल दीपक रखदिया करूँगी।'

'वानरेन्द्र! आपका बल विक्रम अद्भुत है!' दशग्रीव पशु की भाँति अङ्गद के पलने के पास बँधा था। बालि जैसे ही अपने अन्त:पुर में आया,

अत्यन्त विनम्र शब्दों में राक्षसराज ने उसका स्तवन प्रारम्भ किया—'मैं आपसे युद्ध करने आया था; किन्तु आपने मुझे अनायास पकड़ लिया। मैंने सुना था कि गरुड़ में पवन या मन के समान वेग है; किन्तु प्रत्यक्ष देखा कि आपका वेग उनसे अल्प नहीं है। मुझे कक्ष में दबाये आप चारों समुद्रों पर यथेच्छ विचरण करते रहे। अब मेरा अपराध आप-जैसे अप्रतिम शूर को क्षमा कर देना चाहिये।'

'यद्यपि कुमार का एक आक्रीडनक लुप्त हो जायगा और उसकी माता अपने दीपाधार के चले जाने से असन्तुष्ट होंगी; किन्तु अब तुम अभय हो।' बालि ने हँसते हुए दशानन के बन्धन खोल दिये—'बालि को अपने बाहुओं पर विश्वास है, अतः वह किसी से आशंकित नहीं रहता। स्तवन करने वाले शरणागत को बन्धन में रखना उसे शोभा नहीं दे सकता। तुम अब स्वतन्त्र हो अपनी पुरी जाने के लिए।'

'मैं अग्नि की साक्षी में आपकी मैत्री का अभिलाषी हूँ' दशग्रीव उन्मुक्त होकर भी जाने को उत्सुक नहीं था—'लङ्का का ऐश्वर्य, हमारे अनुचर एवं समस्त भोग आपस में अभिन्न रहें।'

'बालि के लिए वरिष्ठ बनने की बात तो तुम कर नहीं सकते। समान शौर्य मुझे सह्य नहीं।' वानरेन्द्र ने प्रार्थना स्वीकार की—'मेरे अनुज की भाँति तुम मेरे अनुगत मित्र बन सकते हो। स्वार्थी सुग्रीव को मैंने भगा दिया है, अतः एक अनुज पाकर प्रसन्नता होगी मुझे।'

'मेरा अहोभाग्य!' दशग्रीव ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।

अग्नि प्रज्वलित करके बालि ने रावण को अपना मित्र स्वीकार किया उन हव्यवाह की साक्षी में। अब लङ्का के अधीश्वर का किष्किन्धा में स्वागत हो रहा था। वह बड़े सुख से वहाँ तब तक रहा, जब तक लङ्का से उसके मन्त्री उसका अन्वेषण करते वहाँ आ नहीं गये।

'तुमने इसे अनुज बनाकर अच्छा नहीं किया।' अन्त तक तारा असन्तुष्ट रही। बालि ने उसके क्षोभ को गम्भीरता से समझना आवश्यक नहीं माना और दशग्रीव अन्त तक अपने विनय से भी उस बानर-सम्राज्ञी को सन्तुष्ट नहीं कर सका।

ॐॐॐ

23. अयोध्या का आतंक—

'मातामह मुझे सुरासुरजयी देखना चाहते थे मातुल!' आज रावण के स्वर में उत्साह नहीं था—'सुर हमारे शत्रु हैं और वे अब सिर उठाने का साहस नहीं करेंगे!'

'असुर आपके अपने हैं!' प्रहस्त ने आश्वासन देना चाहा—'उनसे आपको कभी कोई आशंका नहीं।'

'अब तो इसी पर सन्तोष करना है। विश्वविजयी होने का स्वप्न तो सदा के लिए समाप्त हो गया।' दशानन अचानक इतना उद्विग्न हो जायगा, किसे सम्भावना थी। 'किन्तु क्या कहीं से हमें सचमुच आशंका नहीं?'

'यहाँ आने का कोई साहस नहीं करेगा।' प्रहस्त अकारण मानता था आशंका—'आपका विक्रम विपुल है। विश्व-विजय का स्वप्न भी साध्य होगा ही।'

'दैत्येन्द्र की दया न होती, सुतल के शिशु सम्भवतः दशग्रीव को अश्वशाला म हो अभी बाँधे होते।' रावण अत्यन्त निराश हो उठा—'उनके पुत्र वाण की शक्ति देखकर ही मेरा साहस समाप्त हो गया।'

'आप अकारण आशंका करते हैं!' प्रहस्त कह रहा था—दैत्येन्द्र कभी आक्रमणकारी नहीं बनेंगे और उनके सुपुत्र तो अब आपके सुहृद् हैं।'

'मित्र तो मुझे मानना पड़ा सहस्रार्जुन को भी और अपनी सीमा के समीप ही विवश होकर बालि से भी मैत्री की याचना करनी पड़ी!' उत्साह नहीं पा रहा था कहीं राक्षसराज—'मैं जानता हूँ कि भगवान ब्रह्मा ने मुझे सुर, असुर, नाग आदि से अवध्य बनाया है; किन्तु अवध्य होने से ही कोई विजयी नहीं होता। अवध्य भी विवश बन्दी रह सकता है, यह अब असिद्ध नहीं हैं।'

'अब तो वे सब आपके सुहृद् हैं, जो बल में वरिष्ठ सिद्ध हुए।' प्रहस्त ने इस बार पूछा—'आपको अकस्मात् आशंका कहाँ से हो गयी?'

'अनरण्य ने मुझे शाप दिया है कि उसका वंशज मेरा विनाश करेगा!' दशानन ने अपना भय स्पष्ट किया—'स्रष्टा का सम्मान रखकर मान्धाता ने मुझे मारा नहीं। उसकी मैत्री मिली यह आश्वासन देने पर कि मैं आगे अयोध्या

को आक्रान्त नहीं करूँगा।'

'ओह! तो आप अयोध्या से आतङ्कित हो रहे हैं?' प्रहस्त इस बार हँस पड़ा—'आप सोचते हैं कि वहाँ का अल्पप्राण मानव शतयोजन सागर पार करके आपकी पुरी पहुँच सकता है?'

'मातुल! सृष्टिकर्त्ता ने मेरे अमरत्व में एक अपवाद रखा है। मानव मुझे मार सकता है और यदि वानर उसका साथ दें तो वह मेरी सम्पूर्ण सन्तति को नष्ट करने में समर्थ हो जायगा। बालि को मित्र बना लेना इसी से मुझे आवश्यक जान पड़ा।' 'दशग्रीव इस बार स्पष्ट हो गया—'अयोध्या पर हम आक्रमण कर नहीं सकते। इसका अर्थ ही है कि उसकी शक्ति स्वतन्त्र है असीम अभिवर्द्धन के लिए; और कम-से-कम अयोध्या का मानव तो अल्पप्राण नहीं है।'

'आपने कभी परीक्षण किया है?' प्रहस्त ने पूछा इस अभिप्राय से कि उसे नकारात्मक उत्तर प्राप्त हो।

'मान्धाता से प्रायः पराजित होने के पश्चात् यह परीक्षण आवश्यक कहाँ था?' दशग्रीव ने आशा के सर्वथा विपरीत उत्तर दिया—'किन्तु वह परीक्षण भी मैंने कर देखा। एक नहीं, अनेक बार मैं असफल हुआ।'

'आपने वचन-भंग करके आक्रमण किया वहाँ?' प्रहस्त को आश्चर्य हुआ। उसका भागिनेय अपने वचनों का, जो उसने मान्धाता को दिया, आदर न करे—इतना नीच तो नहीं है।

'मुझसे तुम्हें इतने हीन कर्म की आशा है मातुल? इतना अधम है राक्षसराज?' रावण आज उत्तेजित होने की स्थिति में नहीं था।

'तब?' प्रहस्त ने कुछ कहा नहीं, केवल उसके नेत्र ही पूछ रहे थे।

'अच्छा सुनो?' दशग्रीव अब अपना पिछला वृत्त सुना रहा था—'मैं अयोध्या के सम्बन्ध में सदा सतर्क रहा हूँ। वह अतिमानव भूमि है। मैं वहाँ आक्रमण नहीं कर सकता; किन्तु उसके आसपास तो रह ही सकता हूँ। अयोध्या के अधिपति को अन्यत्र कहीं प्राप्त कर लेना अशक्य तो नहीं है।'

'अवश्य उचित मार्ग है आपका।' प्रहस्त उत्सुक हो उठा—'उसका अधीश्वर कहीं अन्यत्र मिले तो उसे मार दिया जा सकता है!'

'वह मुझे मार न दे, इतना ही बहुत है।' दशग्रीव ने उसी सखेद स्वर में बताया—'मैं अयोध्या के समीप समुपस्थित हुआ था, जब दिलीप सरयू में सन्ध्या कर रहे थे।'

'दिलीप को दिवंगत हुए बहुत दिन हो गये।' प्रहस्त ने मन में ही कहा; क्योंकि रावण की बात पूरी सुनना था उसे।

कटि पर्यन्त जल में पूर्वाभिमुख प्रातः सन्ध्या करते दिलीप ने अकस्मात् एक कर में जल लिया, कोई मन्त्र पढ़कर बिना पीछे देखे पश्चिम पृष्ठ प्रदेश की ओर जल फेंक दिया।' दशग्रीव बता रहा था—'यह क्रिया सन्ध्या कर्म में अतिविधि थी—मुझे अविधि लगी। अब तक मैं दिलीप के पीछे पहुँच चुका था। ब्राह्मण बनकर अब सम्मुख गया और मैंने इस अविधि के सम्बन्ध में पूछा।'

'एक सिंह सुदूर अरण्य में गौ पर आक्रमण कर रहा है।' दिलीप के शब्द दुहरा रहा था दशग्रीव—'अयोध्या की पालित प्रजा—पशु भी कहीं अरक्षित नहीं रहने चाहिये। दिलीप सेवक है प्रजा का और आततायी को वह दण्ड न दे तो अपने कर्त्तव्य से च्युत माना जायगा।'

'मैं वहाँ से सीधे अरण्य की उसी दिशा में गया।' दशग्रीव कह रहा था—'शतशः शरों से बिद्ध केशरी का शव मुझे मिला वहाँ गौ कुछ ही दूर तृण चरने में तन्मय थी।'

'ओह! ऐसे अद्‌भुत मन्त्रज्ञ से शत्रुता न करके आपने अच्छा किया।' प्रहस्त के नेत्रों में आश्चर्य था—'किन्तु यह अतीत की बात है।'

'रघु ने अदृश्य इन्द्र को भी देख लिया था ऋषि अत्रि के अशीर्वाद से और उसके शूर अमृतपाय अमरों के लिए भी असह्य थे।' दशानन कहता ही गया—'उससे शत्रुता लेने का साहस मुझमें भी नहीं था। मैं गया उसके पुत्र अजके समय में अयोध्या। मैंने कोई अन्याय वहाँ नहीं किया। अज आखेट में गया था। लौटने पर उसे मन्त्रियों ने सम्भवतः सूचित किया था कि मैं अनुमति लिये बिना अयोध्या के भीतर प्रविष्ट हो गया था।'

'अयोध्या वाले अब यह आशा करते हैं कि लङ्का का अधीश्वर उनके यहाँ आवे तो अनुमति आवश्यक माने नगर-द्वार से प्रविष्ट होने के लिए?' प्रहस्त के स्वरों में क्षोभ आया।

'अज-जैसे शक्तिशाली का यह अभिमान सहने के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं। मैंने वहाँ औद्धत्य करके अज्ञता का परिचय दिया था। पश्चाताप करना पड़ा मुझे।' दशग्रीव ने दृष्टि उठायी—'मातुल! तुम्हें स्मरण नहीं कि अज के अलक्ष्य शरों ने अपनी स्वर्णपुरी का कितना सत्यानाश किया था। हम सब प्रतिकार नहीं पा सके थे उस विपत्ति का। यह तो हमारा सौभाग्य कि अज उस एक आघात से ही सन्तुष्ट रहा। हम उससे संग्राम कर पाते?'

'आज भी मैं उस समय का स्मरण करके आतंकित हो उठता हूँ।' प्रहस्त ने कहा—'किन्तु अब अज जीवित नहीं है। उसका भय अकारण है आपके लिए।'

'मैं अज के पुत्र अयोध्या के वर्तमान शासक के पास भी गया था। द्वार के पास ही दशरथ के दर्शन हुए मुझे। वह सुरेन्द्र का सखा.....' एक बार दशग्रीव का कण्ठ कुण्ठित हो गया। एक क्षण में वह अपने को सम्हाल चुका था—'उसने मुझे पहिचाना और मेरी अभ्यर्थना की।'

'सामान्य सैनिकों की मृत्यु का आह्वान अकारण होगा।' रावण बता रहा था—'मैंने ही अयोध्या के अधीश से द्वन्द्व युद्ध का प्रस्ताव किया। अयोध्या के राजकुल को परम्परा से अचिन्त्य शक्ति सम्पन्न दिव्यास्त्र प्राप्त हैं। ऋषियों का समूह उन पर सदा सानुकूल रहा, इससे भी उनके अस्त्रों की संख्या बढ़ती गयी। संग्राम में दशरथ को जीतने वाले शूर ने जन्म नहीं लिया, यह मैं जानता था। मुझे अपनी शारीरिक शक्ति पर विश्वास था। केवल बाहु युद्ध में दशरथ को दबा पाने की मैं आशा कर सकता था।'

'दशरथ ने अमराधिपति की संग्राम में सहायता की है।' प्रहस्त प्रशंसा कर रहा था दशग्रीव की सूझ-समझ पर—'जिन निवात कवच दैत्यों को आप रसातल में पराजय नहीं दे सके थे, वे इस अयोध्या-नरेश के शरों के सम्मुख संग्राम में पड़े और प्राण लेकर भागे। आपने उसे बाहु-युद्ध का आमन्त्रण देकर अच्छा किया।'

'मैं किसी अल्पप्राण को पीड़ित नहीं करता। आप तो यहाँ अतिथि—जैसे आये हैं।' अयोध्यानाथ ने कहा था—'अच्छा होगा कि हम दोनों प्रथम अपनी शारीरिक शक्ति का परीक्षण कर लें और तब अखाड़े में उतरें।'

'मैं आपके परीक्षण की प्रत्येक पद्धति स्वीकार कर लूँगा' उस समय

मैंने उत्साह में स्वीकार कर लिया।

'मैं नगर-द्वार के कपाट भीतर से बन्द करके दोनों हाथों से दबाये रहता हूँ।' महाराज दशरथ ने एक पद्धति सुझायी—'अर्गला—शृङ्खला की सहायता नहीं ली जायगी। आप बाहर से बल लगाकर द्वार खोलने का प्रयत्न करें।'

'मातुल! तुम समझ गये होंगे कि अपनी समस्त शक्ति लगाकर भी मैं सफल नहीं हुआ।' दशग्रीव का स्वर अत्यन्त थकित था—'दशरथ के करों ने द्वार को तनिक डगमगाने भी नहीं दिया। मैं फिर क्या मुख दिखाता? पता नहीं कब तक दशरथ ने द्वार दबाये रखे। उन्होंने जब द्वार खोलकर देखा होगा, अवश्य दशग्रीव के दर्प पर हँसे होंगे।'

'इतनी शारीरिक शक्ति है उनमें!' प्रहस्त अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गया—'अयोध्या से आपकी आशंका अब मैं समझ सकता हूँ; किन्तु दशरथ ने लङ्का पर आक्रमण का कोई आयोजन कभी नहीं किया। उनकी कोई भी शत्रुता हमसे नहीं है।'

'हम सुरों के शत्रु हैं और वे सुरेन्द्र के सखा।' दशग्रीव को आश्वासन नहीं मिला—'हम ऋषियों का यज्ञ अवरुद्ध कर देने के नित्य प्रयत्न में हैं और वे ऋषियों के पालक तथा यज्ञों में प्रीति रखनेवाले। अयोध्या से हमारा संघर्ष तो अनिवार्य है।'

'दशरथ अमर होकर तो उत्पन्न नहीं हुए हैं।' प्रहस्त ने कुछ क्षण सोचा—'अब तक उसे कोई सन्तान नहीं है। हमारे अनुचर अयोध्या की ओर न जायें और अन्यत्र भी हम दशरथ से दूर रहें। इस नरेश के पश्चात् सम्भव है, अयोध्या का सिंहासन शून्य हो जाय।'

'मुझे ऐसा नहीं लगता मातुल!' रावण बोला—'आप जानते हैं कि दशग्रीव नियति के अलक्ष्य अङ्क भी पढ़ लिया करता है; किन्तु इस बार मेरा अन्तर्ज्ञान एवं मेरी विद्या भी असमर्थ हो रही है। दशरथ को सन्तान प्राप्त होगी—इससे आगे उस सन्तान के सम्बन्ध में मुझे अत्यन्त श्रम करके भी कोई आलोक नहीं मिलता। वह अज्ञेय लगता है।'

'अनागत की चिन्ता अनावश्यक है!' प्रहस्त हँसा। जिसका कोई उपाय न हो, उसे अभी टाल देने के अतिरिक्त रावण के पास भी क्या उपाय था।

24. व्यूह—

'अद्वितीय शूर सहस्त्रार्जुन को परशुराम ने अपने परशु से पशु की भाँति काट फेंका, यद्यपि वे पदाति थे और एकाकी तो थे ही।'

इस समाचार ने सन्न कर दिया रावण को। उसे हैहय अर्जुन की मित्रता का मोह नहीं था और न इस प्रकार व्यर्थ व्यथा का अभ्यासी था वह। असीम शक्ति मानता था वह अर्जुन में और ससैन्य अर्जुन को—उस अर्जुन को, जिसने अकेले रावण को पकड़ लिया था, कोई पदाति एकाकी केवल परशु से पराजित कर दे—परशुराम के शौर्य का स्मरण रावण के लिए आतङ्क बन गया।

'अर्जुन के पुत्रों ने परशुराम के पिता यमदग्नि को अचानक मार दिया तब, जब परशुराम अनुपस्थित थे। अब तो अर्जुन के वे समस्त पुत्र परशु की भेंट हो गये हैं। एक ओर से परशुराम अब क्षत्रियों का संहार कर रहे हैं।'

इस समाचार ने दशग्रीव को प्रसन्न किया था। भारत के क्षत्रिय सदा से सुरों का सम्मान करते हैं। यज्ञों के द्वारा वे देवताओं की आराधना करते रहते हैं। ऋषियों के रक्षक हैं। शत्रु के उन सहायकों का विनाश दशग्रीव को प्रसन्न करता था।

'क्षत्रिय-संहार की इक्कीस आवृत्ति के पश्चात् परशुराम को अब उपरत होना पड़ा। उन्होंने समस्त भूमि ब्राह्मणों को दान दी, इस अवसर का लाभ उठाकर अगस्त्य ने आदेश दे दिया कि अब दान में दी गयी भूमि से बाहर निकल जायँ।' चतुर चर राक्षसराज को समाचार दे गया था।

'वैसे तो पूर्व समुद्र तट पर महेन्द्र पर्वत पर अब परशुराम ने अपना आश्रम बनाया है; किन्तु पश्चिम समुद्र तट पर ही प्रायः वे रहते हैं। भारत के पश्चिम समुद्र से उन्होंने अपनी शक्ति से भूमि प्राप्त की और वहाँ सात तीर्थ स्थापित किये हैं उन्होंने।'

'परशुराम अब अपने पड़ोसी हो गये। दक्षिण गोकर्ण क्षेत्र से भी नीचे आ गये वे।' दशग्रीव ने उचित अर्थ लिया समाचार का।

'वे क्षत्रियों के शत्रु हैं और शिव के श्रद्धालु उपासक! प्रहस्त ने अपने

भागिनेय की चिन्ता पहिचान ली।

'मातुल! वे परम दुर्धर हैं। सबको सूचित कर दो कि हमारे अनुचर उनके आसपास भी न जायँ। एक के अपराध पर पूरी जाति उनका कोप-भाजन बन जाती है।' रावण ने उसी प्रकार सचिन्त भाव से कहा—'यह ठीक है कि मैं पिता के सम्बन्ध से ब्राह्मण हूँ और वे मेरे आराध्य की ही अर्चा करते हैं; किन्तु यह कहाँ विस्मरणीय है कि विश्वामित्र के भागिनेय हैं। अगस्त्य का आदर करते हैं।'

'आप ठीक कहते हैं?' प्रहस्त भी गम्भीर हुआ—'विश्वामित्र तथा वशिष्ठ की शत्रुता समाप्त हो चुकी है। उनमें अब सौहार्द स्थापित हो गया है और वशिष्ठ का असीम अनुग्रह प्राप्त है अयोध्या के अधिपति को।'

'विश्वामित्र का आश्रम अयोध्या की अपेक्षा मिथिला के अधिक पास है।' इस बार मारीच बोला—'वे इसलिए तो अयोध्या तथा मिथिला के मध्य नहीं आ बसे हैं कि वशिष्ठ के साथ अपने सौहार्द स्थापना के समान अब दशरथ तथा सीरध्वज में भी मैत्री करावें। जनक के गुरु याज्ञवल्य से भी उनका स्नेह है।'

'इक्ष्वाकु और निमि दोनों सूर्य की सन्तति हैं, अतः उनकी सन्तानों में शत्रुता स्वाभाविक नहीं है। उनकी अनबन अस्थायी थी। अब तो उनमें कोई संघर्ष नहीं।' माल्यवान ने स्थिति का स्पष्टीकरण किया।

'मारीच, मायावियों में श्रेष्ठ हो तुम! दानवेन्द्र मय से ही तुम्हारी तुलना की जा सकती है।' रावण ने आदेश दिया—'अयोध्या की ओर से हमें असावधान नहीं रहना चाहिये और यह भार तुम्हीं उठा सकते हो।'

'क्या करना है मुझे?' सीधा प्रश्न किया मारीच ने।

'मिथिला से हमें कोई भय नहीं। वहाँ का नरेश कोई महत्वाकांक्षा नहीं रखता और मुझसे शत्रुता का साहस भी उसमें नहीं है।' दशग्रीव ने समझाया—'तुम्हें अपनी माता ताड़का और भाई सुबाहु को साथ लेना है। अपने अनुकूल अनुचर जितने चाहे उतने ले लो; किन्तु अब विश्वामित्र के आश्रम के आसपास कहीं अयोध्या की ओर के अरण्य में जा बसो।'

'स्थायी रहना है मुझे वहाँ?' स्वर्णपुरी का परित्याग मारीच को कैसे प्रिय हो सकता था।

'अयोध्या पर आक्रमण का साहस अनुचित माना जायगा। यह मृत्यु को आमन्त्रण होगा और नवीन सृष्टि तक करने में समर्थ विश्वामित्र की शक्ति से तुम अपरिचित नहीं हो।' रावण ने कर्त्तव्य-निर्देश किया—'तुम्हारी माता ताड़का अत्यन्त बलशालिनी है और स्त्री होने से उसे कुछ सुविधा भी प्राप्त है। वह अयोध्या से कुछ पास के अरण्य में आवास बना सकती है। तुम दोनों भाई अनुचरों के साथ उससे कुछ दूर विश्वामित्र-आश्रम को दृष्टि में रखकर निवास बनाओ।'

'हम वहाँ क्या करेंगे ?' जब अयोध्या आक्रान्त नहीं करनी और विश्वामित्र से विरोध करना नहीं तो यह प्रश्न स्वाभाविक था।

'अयोध्या की ओर विश्वामित्र बढ़ न सकें, यही प्रमुख बात है। वशिष्ठ उनके आश्रम आते हों तो भी प्राणपण से बाधा देना है।' राक्षसेश्वर अब भी सचिन्त था—'इतना तंग करते रह सकते हो विश्वामित्र को कि वे ऊबकर अन्यत्र चले जावें; किन्तु इतना साहस भी मत करना कि वे क्रूद्ध होकर शाप दे डालें।'

'मुख्य भय है परशुराम से।' प्रहस्त ने स्पष्टीकरण किया—'वे विश्वामित्र के भागिनेय हैं। वशिष्ठ विश्वामित्र का यदि मिलन हुआ तो भय रहेगा कि परशुराम को हमारे विरुद्ध प्रेरित करने को वे दोनों अद्‌भुत बुद्धिशाली ऋषि प्रस्तुत हो जायँ। आशा नहीं है कि परशुराम उनका कोई प्रस्ताव अस्वीकार करेंगे।'

मारीच को राक्षसेश्वर का प्रस्ताव—आदेश स्वीकार करना ही था। वह विश्वामित्राश्रम से अनति दूर अरण्य में रहने लगा और उससे पर्याप्त आगे अयोध्या की ओर ताड़का ने अपना आवास बनाया।

'दशरथ अब दण्डकारण्य तक आखेट करने आने लगे हैं।' चर ने समाचार दिया—'अमित विक्रम जटायु गीध से उन्होंने मित्रता कर ली है और समस्त ऋषि उनका आतिथ्य करने में सदा से अपना सौभाग्य मानते आये हैं।'

'अयोध्या का आतङ्क अपनी ओर अग्रसर होता आ रहा है मातुल!' उद्विग्न कर दिया समाचार ने रावण को—'अयोध्या के आसपास के अरण्यों में ऋषियों के आश्रम हों, हमें इसकी चिन्ता नहीं थी। प्रयाग से आगे बाल्मीकि बस गये और चित्रकूट में तो अत्रि ने अपना आश्रय प्रारम्भ से ही स्थापित कर रखा है; किन्तु अब उससे आगे....।'

'चित्रकूट से आगे शरभंग, सुतीक्ष्ण और अगस्त्य' प्रहस्त ने बात पूरी

की—'इनसे भी आगे आ गया बूढ़ा मतंग।'

'अत्रि और शरभंग के मध्य विराध अपने आप आ बसा है। वह हमारा सुहृद् न सही, ऋषि-मुनियों का शत्रु तो है ही।' रावण अब व्यूह बनाने की चिन्ता में था—'सुतीक्ष्ण ने अपने आश्रम का पर्याप्त प्रसार कर लिया। अगस्त्य के इस शिष्य से हमें सतर्क रहना है। खरदूषण और बहिन सुर्पणखा चतुर्दश सहस्त्र अनुचरों के साथ जनस्थान में हैं। वे सुतीक्ष्ण तथा अगस्त्य दोनों पर दृष्टि रख सकते हैं।'

'दृष्टि ही तो रखी जा सकती है।' प्रहस्त का स्वर खिन्न था—'वरदान प्राप्त वातापिको जो पचा गया, सम्पूर्ण सागर जिसने तीन चुल्लू में पी लिया, वह अगस्त्य परशुराम से कम भयप्रद कहाँ है।'

'मैंने आदेश दे दिया है कि अपने अनुचर सुतीक्ष्ण, अगस्त्य एवं मतंग आश्रमों के अधिक निकट न जाया करें; किन्तु' दशग्रीव किञ्चित हँसा—'उन आश्रमों के जो लोग इधर-उधर अरण्य में मिलें, उन्हें आहार बना लेना आवश्यक मानना चाहिये। अब और कोई आश्रम दण्डकारण्य या उसके दक्षिण न बना लें, यह तो हमें देखते ही रहना है।'

मतंग को तो हम मार सकते हैं।' प्रहस्त ने पूछा—'यदि उनका आश्रम उच्छिन्न कर दिया जाय....।'

'तप और तेज में उसे अगस्त्य से अल्प अनुमान करना अज्ञता होगी।' रावण ने प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया—'फिर वह किष्किन्धा के पड़ोस में है और बालि की उसके प्रति पूज्य प्रज्ञा है। वानरेन्द्र मेरा मित्र है। उसके द्वारा रक्षित आश्रम आक्रान्त होने पर अपनी पुरी पर वह आक्रमण करने में सहज समर्थ है। मतंग वैसे भी मरणासन्न वृद्ध है। उसकी मृत्यु के उपरान्त भी उसका आश्रम उच्छिन्न नहीं होगा। वहाँ तो मुनियों का विस्तृत मण्डल बस गया है। हमारे अनुचर सुअवसर देखकर उनकी संख्या सीमित करने में सचेष्ट रहें, इतना ही अभी पर्याप्त है।'

'अत्याचारी हृदय सदा आशङ्कित रहता है। सत्य यह है कि न अयोध्या के अधीश्वर ने कभी कोई योजना बनायी, न भगवान परशुराम का लङ्का पर ध्यान गया; किन्तु रावण अपने अधर्म से ही आशङ्कित हो रहा था। उसे अपने विरुद्ध ही सब सूझते थे।

⌘⌘⌘

25. करादान—

'दानवेन्द्र ने दण्डकारण्य मुझे दे दिया हैं' दशग्रीव आज अद्भुत निश्चय कर चुका—'उसमें कोइ आवास बनावे तो उसके लिए अनुमति आवश्यक होना चाहिये। ये ऋषि-मुनि सम्पूर्ण अरण्य में सवेच्छापूर्वक आते हैं और आश्रम बना लेते हैं। हम उन्हें यह सुविधा अब आगे नहीं देंगे।'

राक्षसराज ने अपनी राज-सभा में यह आदेश सुना दिया। सूर्पणखा को सूचना देने चर चला गया तत्काल।

'जो लोग इस आदेश से पूर्व आ बसे हैं' विभीषण नम्रतापूर्वक बोले—'वे अब आपकी प्रजा हैं। उन्हें कोई पीड़ा न दे, यह प्रबन्ध भी आवश्यक ज्ञात होता है।'

'दशग्रीव का प्रताप पर्याप्त है इस प्रबन्ध के लिए।' रावण ने प्रहस्त की ओर देखा—'मातुल! ये मुनि मूर्ख हैं सब। अनावश्यक शरीर को संताप देते हैं। इसमें मुझे आपत्ति नहीं, किन्तु जब ये लोग अरण्य से काष्ठ, कन्द, फलादि एकत्र करते हैं तो इन्हें राजस्व क्यों नहीं देना चाहिये?'

'अब तक किसी ने अरण्यानी तपस्वियों पर कर नहीं लगाया है।' विभीषण की वाणी में वेदना थी।

'औरों ने क्या किया, यह सोचना अनावश्यक है। शासक से सुविधा प्राप्त करने का अधिकार उसे है, जो उसके आदेश एवं अभिप्राय का अनुवर्तन करे।' दशानन का स्वर तीव्र हुआ—'जो हमारा अप्रिय करने में ही पटु हों, उनका पोषण हम नहीं करेंगे। शुक और सारण आज ही जायेंगे और दण्डकारण्य से लेकर दक्षिण के ऋषियों को राजस्व देने का आदेश सुनावेंगे। यदि वे अस्वीकार करते हैं तो हमें अधिक कठोर होना पड़ेगा।'

'हम लङ्का के अधिपति राक्षसेश्वर रावण के अनुचर हैं।' शुक तथा सारण सीधे अगस्त्याश्रम पहुँचे थे। विभीषण को कुछ आशा थी इन अमित तेजस्वी महर्षि से। सम्भव है, उनके क्रूद्ध होने के समाचार से रावण शान्त हो जाय और यह अप्रिय अत्याचार आगे न बढ़े। यह सब सोचकर उन्होंने शुक-

सारण को अगस्त्याश्रम से ही अपना कार्य आरम्भ करने को कहा था। वे दोनों महर्षि का अभिवादन करके सम्मुख खड़े हो गये—'राक्षसेश्वर ने हमारे द्वारा यह आदेश भेजा है कि अरण्यवासी सभी लोगों को अब से राजस्व देना होगा अब आप जो आज्ञा दें।'

'अरण्य के अकिञ्चन तपस्वियों पर वह अत्याचारी अब कर लगा रहा है?' महर्षि अगस्त्य के नेत्र एक बार अंगार हो उठे, किन्तु क्षणार्ध में उन्होंने अपने को शान्त कर लिया—'अच्छी बात! आप कुछ देर प्रतीक्षा करें। मैं अपने आश्रम से ही कर देना प्रारम्भ करता हूँ।'

शुक-सारण स्थिर खड़े रहे। इन अमित तेजस्वी ने उन्हें शाप नहीं दिया, इतनी ही क्या कम कुशल हुई। उधर महर्षि के शिष्यों ने आचार्य का आदेश पाकर आसपास के समस्त तापसों को एकत्र किया।

'जो उपार्जन करता है, उसे राजस्व देना चाहिये।' महर्षि अगस्त्य के स्वर में आज भयावह गाम्भीर्य था—'जो अपने को सर्वात्मा की सेवा एवं उसके चिन्तन के लिए उत्सर्ग कर चुका, वह समस्त बन्धनों से उन्मुक्त हो जाता है। उसे कर्म भी आबद्ध नहीं करते; किन्तु लङ्का का अत्याचारी शासक ऐसे अरण्यानी जनों से भी कर लेना आवश्यक मानता है। हमारे पास अपना यह शरीर है और आमिषाशी राक्षस को इसके रुधिर की आवश्यकता है। अतः मैं प्रारम्भ करता हूँ।'

जिनकी चरण धूलि त्रिभुवन को पवित्र करती है, जो समस्त सुरों के लिए भी वन्दनीय हैं, उन्हीं तपोधन ने अपने उरु में तीक्ष्ण कण्टक चुभा लिया। रक्त की बूँदें गिरने लगीं टपाटप पहिले से प्रस्तुत घट में। पर्याप्त रक्त महर्षि अगस्त्य का उसमें गिरा।

'अब आप सब भी अपना भाग देंगे!' घट आगे बढ़ा दिया उन्होंने। एक के पश्चात दूसरे ऋषि, मुनि तथा ब्रह्मचारियों ने अपना रक्त उसमें एकत्र किया।

'अब इसे ले जायँ।' महर्षि अगस्त्य ने राक्षसेश्वर के अनुचरों को वह घट अर्पित कर दिया—'अपने अधीश्वर को यह दे देना और बता देना कि इससे उसके सम्पूर्ण विनाश का कारण उत्पन्न होगा।'

'सम्पूर्ण विनाश का कारण!' भय के मारे दोनों राक्षस पीत पड़ गये।

अस्वीकार करने का भी साहस उनमें नहीं था।

'तुम दोनों इतने व्याकुल एवं विवर्ण क्यों दीखते हो?' रावण आश्चर्य में था। शुक-सारण ने राज-सभा में ही उसके सम्मुख एक कलश रख दिया था, जो ऊपर से अच्छी प्रकार आच्दादित था। उन दोनों का शरीर कम्पित हो रहा था और मुख शुष्क हो चुका था। उनकी स्थिति देखकर राज-सभा सन्न थी। राक्षसेश्वर पूछ रहा था—'इसमें क्या है?'

'ऋषियों का रक्त' आशा के सर्वथा विपरीत उत्तर मिला—'अगस्त्य ने अपने से ही आरम्भ किया इस प्रकार आपको कर देना। उन्होंने यह घट देकर जो कुछ कहा है....'आगे वाणी बोल नहीं पा रही थी।

'ओह! तुम इतने अज्ञ हो कि अगस्त्याश्रम पहुँच गये सर्वप्रथम!' दुर्दम दशग्रीव का मुख भी हतप्रभ हो गया—'अब जो कुछ है, कह डालो! वह भयावह तो होगा ही।'

'इस घट के अनावृत होने पर इससे राक्षसों के विनाश का मूल व्यक्त होगा! किसी प्रकार उन्होंने ये शब्द दुहराये।

'इतनी-सी बात!' दशग्रीव ने देख लिया कि सभी सभासद अत्यन्त आकुल हो उठे हैं। उसने उन्हें आश्वस्त करने का प्रयत्न किया—'घट अनन्तकाल तक आवृत पड़ा रह सकता है।'

'अनन्तकाल तक आवृत्त!' सचमुच सब के नेत्रों में दीप्ति आ गयी। सबने सोल्लास राक्षसेश्वर की ओर देखा।

'कुछ अधिक सावधानी आवश्यक है!' उसी स्थिर स्वर में राक्षसराज कहता गया—'इसे यहाँ से इसी प्रकार ले जाओ और उत्तर-भारत भूमि पर जाकर कहीं उपयुक्त स्थल पर भूमि के भीतर सुरक्षित कर दो!'

निद्रा, आलस्य और प्रमाद—ये तमोगुण के तीन धर्म हैं। आशा नहीं की जा सकती कि तपोगुणी जनों से ये तीनों दूर रहेंगे। ऐसी दशा में 'अधिक सावधानी' कहाँ से आवे। रावण के अनुचरों ने मिथिला के एक प्रदेश में वह घट गाड़ दिया। अल्पकाल में ही इस घटना को राक्षस और स्वयं रावण भी भूल गया। अवश्य इसके पश्चात् ऋषियों से राजस्व लेने का साहस उसमें रह नहीं गया था।

⌘⌘⌘

26. उपसंहार—

ऋषियों के रक्त का घट जिस राज्य में गाड़ा गया हो, वहाँ सुवृष्टि कैसे हो। मिथिला महान ज्ञानियों की भूमि किन्तु उस पर भी दुर्दैव का प्रकोप हुआ। अकस्मात् वहाँ अनावृष्टि प्रारम्भ हुई—हिमालय की तराई का वह क्षेत्र जो अतिवृष्टि से पीड़ित हुआ करता है—वर्षा की बूँदे नहीं पड़ी वहाँ की पृथ्वी पर।

'मैंने महेन्द्र का तो कोई अपराध नहीं किया।' महाराज विदेह प्रजा के परिताप से पीड़ित हुए—'मेघ आते हैं; किन्तु इस भूमि के ऊपर से ऐसे भाग जाते हैं; जैसे यहाँ वर्षा करने में उन्हें कोई भय लगता हो।'

ज्ञानियों के उन गुरु की आशङ्का अकारण नहीं थी। ऋषियों के रक्त में कहीं से कोई वर्षा का जल पहुँचे, ऐसा अवसर आने देने का साहस सुरेश में नहीं था। मिथिला के मित्र होकर भी वे वहाँ वर्षा न करने के लिए विवश हो रहे थे।

अकाल जैसे मिथिला में अपना अड्डा बना चुका हो। एक-दो नहीं, पूरे बारह वर्ष व्यतीत हो गये। पृथ्वी पूर्णतः शुष्क हो चुकी थी। तृणों की क्या चर्चा, तरु पर्णहीन पड़े थे। सरोवरों के शुष्क तलों में दरारें दीखती थीं। प्रजा भाग रही थी पोषण प्राप्त करने की चिन्ता में।

'मुझसे क्या अपराध हुआ?' अन्तत महाराज जनक ने अपने योगीश्वर गुरु याज्ञवल्क्य की शरण ली—'मुझ शासक का कौन-सा पाप इतना प्रचण्ड है कि प्रजा पीड़ित हो रही है? कैसे परित्राण प्राप्त हो उसे?'

'आप अपने प्रति अकारण आशङ्का करते हैं।' महर्षि याज्ञवल्क्य ने दो क्षण नेत्र बन्द किये थे—'महाराज निमि के वंश में पाप का मल कभी नहीं आया; किन्तु किसी परम सौभाग्य की प्राप्ति के लिए प्रथम तप आवश्यक होता है। जो सौभाग्य प्रजा को भी पाना है, उसकी भूमिका में उसे भाग मिलना ही था।'

पराशक्ति के आगमन का अनुमान कर लिया था महर्षि ने। उन्होंने पुनः दो क्षण ध्यान किया और आदेश दे दिया—'आप अब आपत्ति का निवारण

आसीन समझें। यज्ञ आवश्य है। समारम्भ शीघ्र हो जायगा, ऐसी आशा है।'

'जब आपकी आज्ञा हो।' महाराज ने मस्तक झुकाकर स्वीकार कर लिया। उसी समय मुहूर्त निश्चित हो गया और स्वयं महर्षि उठ पड़े उपयुक्त भूमि की शोध में।

रावण का 'अनन्त काल' अत्यल्प सिद्ध हुआ। महाराज सीरध्वज जनक स्वर्ण लाङ्गल से अपनी यज्ञ-भूमि का शोधन कर रहे थे। उनके हल का अग्र भाग (सिर) उस घट में आ लगा जो रावण के अनुचरों ने वहाँ भूमि में सुरक्षित समझकर रख दिया था। आवृत घट फूटकर अनावृत हो गया। घट में ऋषियों का तपःपूत शोणित था—पराशक्ति ने उसे अपने प्रादुर्भाव का पुनीत आधार बना लिया।

पृथ्वी से जैसे प्रकाश-राशि फूट पड़ी हो। महाराज का हाथ हल पर स्थिर हो गया। वे मूर्ति के समान स्थिर हो रहे। भूमि में उनके सम्मुख एक सौन्दर्य की घनीभूत सुकुमार मूर्ति बालिका बनी उनके अङ्क में आने को उत्सुक थी।

सीर (हलाग्र) के प्रकट होने के कारण वह बालिका सीता कहलायी। महारानी सुनयना पुत्री पाकर प्रफुल्लित हो उठी। राक्षसों के विनाश का मूल इस प्रकार व्यक्त हो गया।

अब आगे इस वृत्त को बढ़ाना अकारण होगा। श्रीरामचरित मानस में मर्यादा-पुरुषोत्तम का पुनीत चरित है औरउसमें रावण के निर्वाण तक का वृत्त आ जाता है। अतः मैं यहीं इस चरित को समाप्त करता हूँ रावण का आगे का चरित पढ़ने के लिए तो आप मेरे द्वारा चार खण्डों में लिखा श्रीकृष्ण-जन्म-स्थान से प्रकाशित 'श्रीरामचरित' भी पढ़ सकते हैं।

⌘⌘⌘

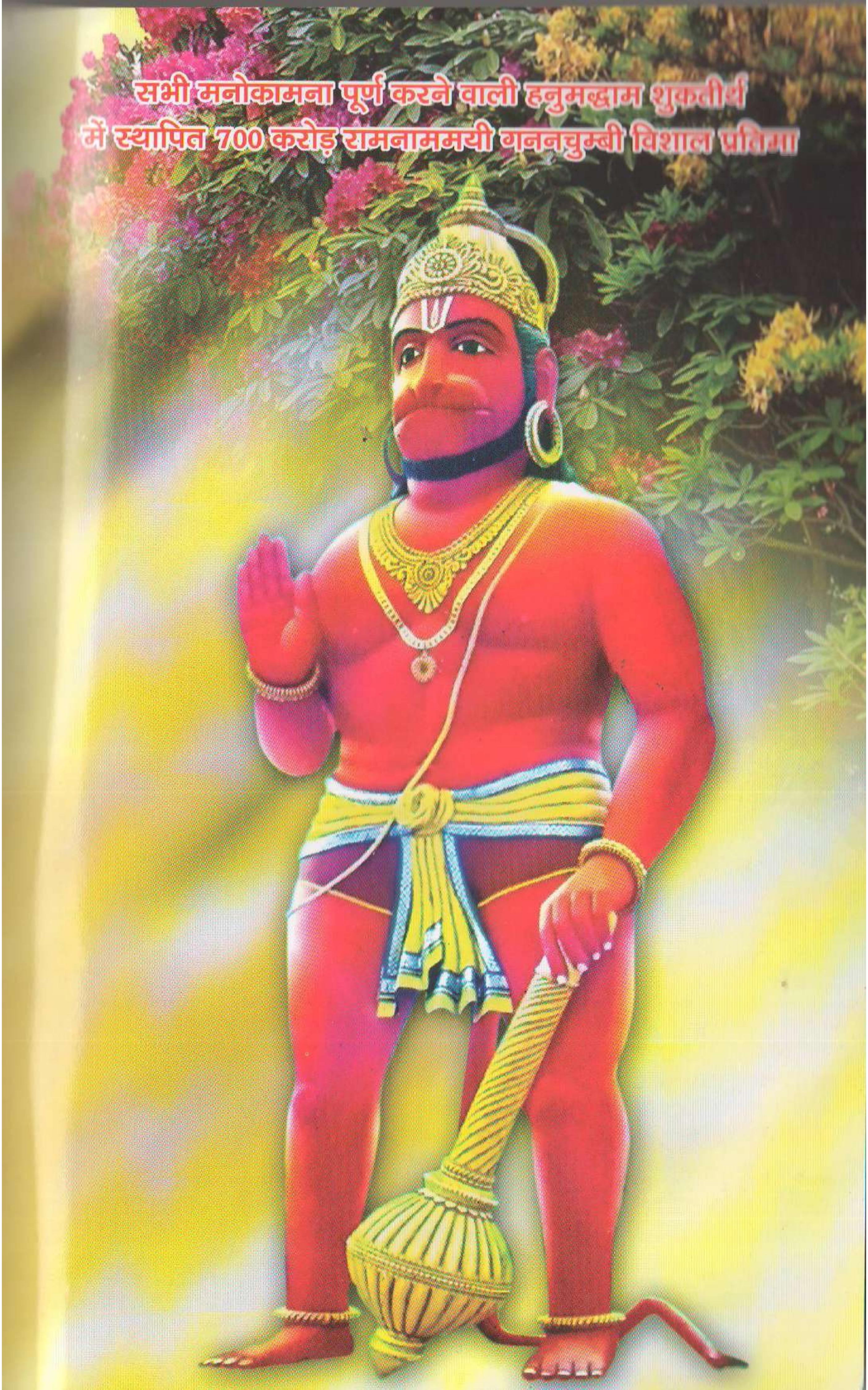
सभी मनोकामना पूर्ण करने वाली हनुमद्धाम शुकतीर्थ
में स्थापित 700 करोड़ रामनाममयी गगनचुम्बी विशाल प्रतिमा

महामण्डलेश्वर स्वामी केशवानन्द सरस्वती

आप आध्यात्मिक ज्ञान, भक्ति एवं कर्मनिष्ठा के मूर्तिमान स्वरूप परमपूज्य ब्रह्मलीन स्वामी श्री रामधारी जी महाराज के प्रतिभावान् शिष्य हैं। उन्हीं के प्रसाद से आपने अन्तः चेतना में भक्ति और वाह्य जीवन में कर्मयोग की लोक-हितकारी सेवा को जीवन का लक्ष्य बनाया है।

आप "श्री राम आध्यात्मिक प्रन्यास" में संस्थापक होने के साथ-साथ हनुमद्धाम के सर्वोन्मुखी विकास के कुशल निर्देशक एवं प्राणवन्त संचालक हैं।

'सर्वभूतहिते रताः' के उपासक के रूप में जन-कल्याण के लिए आपका समर्पित जीवन हनुमद्धाम में विविध रूपों में उजागर हो रहा है जिसमें हनुमत रसोई (अन्नक्षेत्र), गौ सेवा संवर्द्धन-रक्षण एवं साधु-संत सेवा में अहर्निश संलग्न रहना कर्मठता, सेवा भावना एवं प्रेम का जीवंत उदाहरण हैं।

जाति, वर्ग, पंथ के लौकिक बन्धनों से विरत रहकर मूक तपस्वी की भाँति लोक कल्याण में निरत रहना आपका ध्येय और हनुमद्धाम में आये हुए आगन्तुकों को श्री हनुमद् चरण सन्निधान में प्रीति प्राप्त हेतु श्रेय भावी मार्ग एवं जन कल्याण भावी लोगों को प्रेय (लौकिक) मार्ग प्रशस्त एवं सुलभ कराना लक्ष्य है। जो निःस्वार्थ मानव सेवा का प्रतीक है।

हनुमद्धाम

शुकतीर्थ, जिला-मुजफ्फरनगर-251316 (उ.प्र.) भारत

दूरभाष : 01396-228225